इब्तिदा के आगे खाली ही

नीलाक्षी सिंह

इब्तिदा के आगे खाली ही

केवल सात घंटे का समय था मेरे पास। ऐसे उपाय थे कि चुटकियों में उड़ जाते ये घंटे सात। पर एक हसरत जो पिछले कुछ घंटों में बस की खिड़की वाली सीट पर बैठे-बैठे मेरे भीतर अंखुआई थी, उसे अनदेखा कर पाना मुमकिन न था। यह बात मैं जान गया था विचार के आने वाले पल ही कि इसे मुकाम तक पहुँचाए बगैर मैं उस शहर से हिलने वाला नहीं था। भले उसके लिए सात दिन और वहाँ रुकना ही क्यों न पड़ जाए!

एक भारी स्काई बैग और एक लैपटॉप - यही सामान था मेरा और उन्हें लिए लिए ही आगे का... मतलब बीच के सात घंटों के सफर को तय करने का फैसला किया मैंने।

https://www.hindiadda.com/ibtida-ke-aage-khali-hee/

जब मैं अपनी ट्रेन की पूछताछ कर (सात घंटे पहले की गई पूछताछ बेमानी थी, फिर भी..) स्टेशन से बाहर निकला तो मुझे होश आया कि ऐसी तुड़ी-मुड़ी वेशभूषा में निकल पड़ना उचित था क्या? खासकर तब, जब मंजिल ऐसी थी जहाँ मेरा अपने सर्वोत्तम गेटअप में उपस्थित होना मौजूँ था। पर अब उस बारे में अपनी कोई मदद नहीं की जा सकती थी, सिवाय इसके कि मैं अपने बालों में उँगलियाँ फेरकर उन्हें थोड़ी करीनगी का ढाँढ़स दे सकता!

पते के नाम पर एक छोटा सा सूत्र था। कोई गवर्मेंट स्कूल था लड़कों का। जब वह इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिले का फार्म भरा करती थी मेरे साथ तो कई दफे (अक्सर) मैं ही उसका भी फॉर्म भरा दिया करता था। इसलिए पता उसका था कहीं दिमाग में दर्ज। पर इन चार सालों में क्या वह अपने पिता के घर वाले पते पर ही फ्रीज रह पाई होगी या कि... किसी और पते के फ्रेम में कैद हो चुकी होगी अब तक!

उन दिनों हम ग्रेजुएशन के पहले साल की पढ़ाई कर रहे थे और साथ-साथ इंजीनियरिंग की तैयारी भी। हम दोनों अपने-अपने घरों से दूर प्रदेश की राजधानी में पढ़ने आए थे। इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षा में अगले साल मेरा चयन हो गया और मैं आगे की पढ़ाई करने दूसरे शहर चला गया। वह पीछे छूट गई... स्नातक की कक्षाओं के बीच। यह उसका शहर था। मेरे शहर और जिस शहर में इंजीनियरिंग कॉलेज था - ठीक उसके बीचोंबीच। हर दफे जब मैं छुट्टियों के बाद कॉलेज लौटता तो यह शहर मुझे रोकने की ताक में लगा रहता और मैं जोर से आँखों को मूँदकर इस सफर को पार कर लिया करता था। पर इस दफे बिना किसी पूर्व तैयारी के मैं यहाँ रुक चुका था।

स्टेशन के बाहर की पुरानी दुकानों से मंजिल की तफसील हासिल कर मैं रिक्शे पर सवार हो गया। बगैर खाए निकल रहा था मैं - यह ज्ञान रिक्शे पर सवार हो चुकने के बाद हुआ। पर अब इन जैविक जरूरतों का महत्व ज्यादा न रहा था, कारण कि एक सुरसुरी मेरे तलुवों के बीचोंबीच उठ गई थी... क्या वाकई मैं उसे खोज लेना चाहता था!

लैंडमार्क बने स्कूल के समीप बहरहाल मेरा रिक्शा रुका था और मैं काँपती जुबान से उसका नाम लेकर दरियाफ्त कर रहा था। एक बुजुर्ग किराने वाला था जो उसके नाम का मुझसे भी कँपकँपाया उच्चारण कर उस नाम वाले को ठीक-ठीक याद कर पाने की कोशिश कर रहा था। कँपकँपाता नहीं बल्कि लिसड़ा सा उच्चारण... 'मृगा' पसरकर 'मिरगा' हो गई पर किराने की दुकान के मालिक और उसके सारे कारिंदे

मिलकर भी उसकी शिनाख्त नहीं कर पा रहे थे। मुझसे क्लू के तौर पर 'टाइटिल' पूछा गया तो मैं जवाब देने के वांछित पल में कोई उत्तर न दे सका। वह तो बिना लाग लपेट अपना नाम लिखा करती थी। ढाई अक्षर बस। आगे पिता के नाम की बारी थी। तब मुझे अतीत के इंजीनियरिंग दाखिले के फॉर्म से फादर्स नेम के सामने वाले कॉलम से उसके पिता का नाम 'कट' कर लाना पड़ा और उसे इस पल में 'पेस्ट' कर दिया मैंने - दीनदयाल...

शिनाख्त फिर भी न हो सकी। दूसरी दुकान, तीसरा मकान...। एक पीसीओ बूथ पर मुझे उसके होशमंद मालिक ने चेताया कि गवर्मेंट हाई स्कूल या मिडिल स्कूल? इस तरह के भी प्रपंच हो सकते थे ये तो सोचा न था। पर जो भी हो उसने मेरी निराशा को दरकिनार कर दिया था। यह हाई स्कूल का इलाका था। तो संभावनाएँ एक दूसरे प्रदेश में अभी अक्षुण्ण थीं।

इस नए प्रदेश में तमाम संभावनाशील दुकान और मकानों पर थाप बजा चुकने के बाद सार यह निकला कि मंजिल इतनी जल्दी अपने तक पहुँचने देने के हक में नहीं थी। मेरे इस अभियान के बीचोंबीच न जाने कितने कॉल आ चुके थे। मुदित, मंजरी, गौरव, चिरायु... और सबसे बढ़कर श्लेषा! पल-पल का लेखा-जोखा चाहिए था उसे। उस पर भी जब मैं आधिकारिक रूप से रेलवे स्टेशन पर बैठा वक्त काट रहा था तो मेरे रिस्पांस में होने वाली देरी उसे हल्कान कर रही थी। पर दिमागी तौर पर अभी मैं अपनी दुनिया से इतना अलग पा रहा था अपने को कि मैंने मोबाइल ही बंद कर दिया, उसके नंबर पर भेजे आखिरी संदेश के साथ कि बैटरी डिस्चार्ज हो चुकी थी और कोई चार्जिंग प्वाइंट काम नहीं कर रहा था स्टेशन पर। एक जिद की तरह अब यह तलाश मुझ पर चढ़ रही थी और मैं वहीं एक चाय की दुकान पर कुल्हड़ फूँकता आगे की रणनीति सोचता रहा। हो सकता है अपना मकान न हो! वे लोग किराएदार हों...। उसके पिता टीचर थे - इतिहास या राजनीति शास्त्र कुछ... - मैं कुल्हड़ फेंक कर खड़ा हो गया। उस मिडिल-स्कूल में विज्ञान या गणित तक में कोई उस नाम का अध्यापक न था। वहाँ किसी ने चुग्गा दे दिया कि हाई-स्कूल में एक उस नाम के अध्यापक हैं संभवतः।

इस शहर को याद कर लेना आसान था ऐसा मुझे लगा, जबकि मैं रिक्शे से वापस मिडिल-स्कूल से हाई-स्कूल का रास्ता नाप रहा था। बनता हुआ (?) शहर था। ढाँचे अपने मूल रूप में ही बुलंद थे और उलझी हुई इमारतों का छूत अभी लगना शुरू ही हुआ था।

हाई-स्कूल में 'दया बाबू' नाम के एक रसायन-शास्त्र के शिक्षक तो मिल गए पर 'दीन दयाल' के नाम से सर्च करने पर 'नो मैच फाउंड' रिजल्ट आया। साढ़े-चार घंटे सरक चुके थे और गर्वोन्मत्त सात घंटों में से कुल जमा अब ढाई-घंटे शेष थे। किसी भी जतन से उसे खोज लेना था। उसे न सही उस से संबंधित किसी सूचना को तो जरूर। मैंने अकुलाकर चारों तरफ नजरें दौड़ाईं। क्या किया जा सकता था! कंधे पर भारी सामान और सारे विकल्प दगाबाज! पर कोई जुगत तो लगानी थी।

कॉलेज का विकल्प भी तो था! इंटर और डिग्री के सरकारी और प्राइवेट कुल तीन कॉलेज थे। मैंने एक-एक करके उनकी फेरी लगाना तय किया। शहर पूरी तरह से मेरी मदद में जुटा था - यह तब महसूस किया मैंने जब पाया कि उन तीनों कॉलेजों के आपस की दूरी काफी कम थी। इमारतों ने भरसक सरका लिया था अपने आप को नजदीक। लोग-बाग भी पूछताछ में सहयोग कर रहे थे। रिक्शेवाला भी रुकने की मोहलत में देरी हो जाने पर अपने चेहरे को शिकन तक से बचा ले जा रहा था। सब सहाय थे... सिवाय मंजिल के। आखिरी कॉलेज ने एक और विकल्प थमा दिया - सिविल सर्विसेज और दूसरी प्रतियोगिता के लिए कराई जाने वाली कोचिंग की जगह! इस कोचिंग वाली जगह को खंगाल चुकने के बाद मेरे पास पौन घंटे का समय बच गया था। वहीं, कोचिंग के बाहर एक पेड़ की छाँह में बने चबूतरे पर बैठकर मैंने लैपटॉप ऑन किया और टी डी आर फाइल करके टिकट कैंसल कराने की स्वीकृति दे दी। पचास प्रतिशत चपत की मंजूरी के साथ।

कमरा सादा था। साफ-सुथरा भी नहीं कहा जा सकता। काठ का एक सोफा था संकुचित। मैंने सामान मेज पर रखा और वहीं सोफे पर बैठ गया। भूख के निशान को भीतर तक टटोला तो लगा कि वह उस ओर से होकर कभी गुजरी नहीं थी... साथ में यह भी स्मृति आई कि मिडिल-स्कूल की दरियाफ्त के वक्त मैं बेतरह भूखा था। तो उस कुल्हड़ की चाय ने भूख के निशान को धो डाला था! जो भी हो... अभी कुछ महसूस नहीं हो रहा था।

क्यों था मैं वहाँ? मैंने सिर को पीछे ढलका कर आँखें बंद कर लीं। ऐसी ही बंद आँखों में एक हसरत जागी थी और मैं वहाँ आ गया था, जहाँ होने के बारे में सोचकर बाद के किसी होशमंद पल में मैं सिर्फ अचरज ही कर पाऊँगा। जबकि इस बात की पूरी संभावना बनती थी कि अगर उसने राजधानी में स्नातक किया था तो आगे की पढ़ाई या नौकरी वहीं कर रही हो। किसी भी स्थिति में स्नातक वहाँ से कर चुकने के बाद

उसके वापस अपने घर लौटकर बैठ जाने की उम्मीद काफी कम थी। पर जाने क्यों उसे इस शहर से जोड़कर देखने की मेरी जिद जोर मारे बैठी थी।

मैंने वैसे ही आँखें बंद किए-किए उसका चेहरा याद करने की कोशिश की... और गौर किया कि इंजीनियरिंग दाखिले के उस फॉर्म में गीली स्याही से लिखा नाम पता सब दर्ज था साबूत... पर तसवीर उखड़ गई थी, अपनी जगह से। कच्चा गोंद! मुकम्मल चेहरा उसका... याद नहीं कर पा रहा था मैं। झलक याद आ रही थी अलग-अलग। मानों मेरी बंद आँखों के पार बस पानी हो हहराता जिसमें उसकी तसवीर तैरती उतराती रह जा रही थी..। स्थिर तसवीर उकेर ना पा रहा था मैं। इसी बीच यह याद आया कि मोबाइल ऑन कर अपने न आ पाने की सूचना दे दी जाए।

'ट्रेन आने में अभी दस मिनट हैं तो तुम्हारी ट्रेन छूट कैसे गई**...?**'

मैं आकर सब समझा दूँगा**...** मैं अपने आप को और श्लेषा को एक शीत**-**युद्ध की ओर ढकेल चुका था।

कुछ घंटे बाद फ्रेश होकर मैं नीचे आया। शाम बस ढलने वाली थी। होटल से बाहर निकलते ही बाजार शुरू हो जाता था। साइकिल, रिक्शा, पैदल... राहगीरों से अँटा पड़ा बाजार, जो सगा मालूम होता था और जरा भी आतंकित नहीं करता था। एक मुहाने पर कदम छेक लेने वाली खुशबू थी। भूख न जाने किन अंतड़ियों से निकलकर छितर गई। मैंने समोसे लिए और जिस लड़की का शहर था, उसने उँगलियाँ पकड़कर ब्रेड खरीदवा दिया। सूखे बेजान ब्रेड के दो स्लाइस के बीच में भाप उड़ाता समोसा दबा दिया मैंने और टूट पड़ा। यह हम दोनों का पसंदीदा खाना हुआ करता था। सस्ता, स्वादिष्ट और पेटभराऊ। समोसा तीखा था, या गरम ज्यादा... जो भी... मेरी आँखों से बूँद भर पानी टपक गया। चार ब्रेड खरच चुका मैं और बचा हुआ पैकेट मैंने रास्ते में मंदिर के बाहर बैठे एक बच्चे के पास सरका दिया। मैं हटा भी न था दृश्य से कि एक रेला बच्चों का उसे घेर कर बैठ गया। मैं बढ़ गया आगे।

मैं एक बार फिर मिडिल-स्कूल से हाई-स्कूल के बीच की दूरी पाट रहा था। इस बार पैदल। पर शाम ढलते ही पूरी पृष्ठभूमि बदल चुकी थी और बीच का रास्ता अपने पूरे सज-धज में प्रस्तुत था। मछली बाजार, सब्जी मंडी, गोलगप्पे-चाट के ठेले, बच्चों के खिलौनों की दुकान, भूँजा वाला कंसार, मंदिर की घंटी, फूल...गजरे। मैं बेमकसद भटकता रहा पूरी शाम... रात। उन्हीं रास्तों पर, जिनपर दोपहर भर दौड़-भाग की थी

मैंने। और आश्चर्य कि एक बार भी उसके पते की किसी से दरियाफ्त अबकी नहीं की मैंने। मैं बस भटकता रहा।

बल्ब की मरियल सी रोशनी में कमरा और उदास लग रहा था। कमरे में मच्छर थे फिर भी मैंने एक खिड़की खोल रखी थी, जो उस कमरे की एकमात्र सुंदर चीज थी। कारण कि वह उस ऐंगल में खुलती थी, जहाँ से शहर निर्बाध दिखता था। मैं उससे लगकर खड़ा हो गया। मिडिल-स्कूल हाई-स्कूल कॉलेज... सारे के सारे किरदार सामने पसरे शहर के ढाँचे में दुबके होंगे कहीं। एक भयानक सा वैराग्य जागा। ऐसा लगता था मानों कोई नाटक खत्म हो चुका हो और जो बच गई थी सामने, वह बसिआई दृश्य-सज्जा हो, जिसका नामो-निशान सवेरा होते-होते हटा दिया जाएगा और मंच दूसरे नाटक के लिए सज चुका होगा। किराने की दुकान के मालिक के दाहिने हाथ का मोटा लोहे का कड़ा, दया बाबू की काँख के नीचे दबाया मोटा रजिस्टर, समोसे वाले की छेददार बनियान, रिक्शे की सीट की लाल गद्दी... सब छितर-बितर थी। क्या इस उजड़ चुके मंच पर नंगे पैर चलकर मैं बेहतर जारी रख पाता अपनी तलाश!

क्यों खोज रहा था मैं उसे। जिसे पिछले चार-पाँच सालों में याद तक न किया, कोई खोज-खबर न ली... उसके लिए ऐसी भटकन का क्या औचित्य था! एक साल हमने साथ बीए की पढ़ाई की और इंजीनियरिंग की तैयारी भी। मेरा चयन हो गया और मैं चला गया आगे पढ़ने। मैं उसे खोज रहा था उसे एक बार देख पाने या उसके बारे में जानने के लिए या शायद मैं उसके आगे अपनी सफलता की लकीर खींच कर उसके पूरे अस्तित्व को एक छोटी लकीर में तब्दील कर देना चाह रहा था! उसका चेहरा नहीं... बल्कि उस चेहरे पर एक कसक, टीस और शायद ईर्ष्या के साये हल्के... देखना चाहता था मैं।

मान लिया जाए कि अगर वाकई वह भी इसी शहर में हुई तो! इस बात से बेखबर कि मैं सुबह से भटक रहा हूँ... किसी के लिए। कौन जाने जब मैं मंदिर के बाहर ब्रेड का पैकेट बच्चे को पकड़ा रहा था... वह मंदिर से दर्शन कर निकली हो और चप्पलों की कतार में से अपने चप्पल बीन रही हो... हाथ-भर की दूरी पर। या जब मैं कोचिंग क्लास में शिक्षकों की सूची खंगाल रहा था, वह भीतर क्लास में बैठी जल्दी-जल्दी नोट्स उतार रही हो! या फिर जब मैं पेड़ की छाँह में बैठा ट्रेन का टिकट कैंसिल करवा रहा था, वह प्लेटफॉर्म पर उसी ट्रेन का इंतजार कर रही हो... आगे की यात्रा के लिए।

यही वह पल था, जिसने सब कुछ बदल दिया। पच्चीस साल की जिंदगी आठ बाई दस के कमरे में एक चौकोर खिड़की के आगे पलट जाएगी, कभी सोचा तक न था। कारण कि एक मजेदार खेल हाथ लग गया था मेरे। वह मुझे भले न मिल पाई हो इस दिन भर की भटकन में पर एक आभासी दुनिया में मैं उसे अपने समानांतर रख सकता था। खेल को कल्पना के इस बिंदु से आगे बढ़ाना था कि वह स्टेशन पर है और उसी ट्रेन की प्रतीक्षा कर रही है जिसमें मुझे सफर करना था। ठीक इसी बिंदु से...

ट्रेन धड़धड़ाती आकर प्लेटफॉर्म पर लग चुकी थी और वह लड़की अपने ट्रॉली वाले बड़े से सूटकेस और एयरबैग से लदी-फँदी सवार हो चुकी थी उसमें। उसका टिकट आरएसी तक आकर रुक गया था चार्ट बनाए जाने तक और ट्रेन सरकने के काफी देर बाद उसका बर्थ कन्फर्म किया गया। बी-वन में चौंतीस नंबर की बर्थ। मेरे चेहरे पर मुस्कान आ गई और दिल जोर-जोर से धड़कने लगा। सामान सामने छत्तीस नंबर वाले बर्थ के नीचे घुसा रही थी वह। बुद्धिमान लड़की! बीच की सीट पर टँगे होने पर सामान नजर के सामने रहेगा।

मैं अपने मोबाइल में टिकट कटाए जाने पर रेलवे द्वारा आए एसएमएस से तस्दीक करता हूँ। बी-वन की सीट चौंतीस - यही मेरी सीट का नंबर था, जिसे मैंने कैंसिल कराया था।

तैतीस नंबर की सीट किसी लड़के की है। वह उस लड़के से सीट की अदला-बदली का आग्रह कर सकती है। ऊपर चढ़ने में दिक्कत है... कमबख्त लड़कियाँ! पर अगर ऐसा विचार उसके दिमाग में रहता तो वह यकीनन तैंतीस नंबर सीट के नीचे अपना सामान रखती।

वह झटके से उठती है और लड़के से आग्रह करती है कि वह भी उठे... ताकि वह अपना बर्थ ऊपर कर सके। मुझे उस पल मृगा पर बहुत दुलार आता है और मैं उससे कहता हूँ कि वह खड़ी रहे... सारा इंतजाम मैं कर दूँगा। बर्थ उठाना, चादर बिछाना, तकिया कंबल तौलिया चादर... सब करीने से लगाना। अब सब तैयार है और वह मेरी (?) सीट पर मजे से दुबक सकती है... वैसे ही जैसे मैं इस सफेद बिस्तर में आराम से दाखिल हो गया हूँ अब। सब कुछ एकबारगी मद्धम संगीत जैसा आनंददायक हो गया था। वह माथे तक चेहरा ढक कर फौरन सो गई है करवट फेरकर और मैं चादर और कंबल के आवरण से साबूत निकले रह गए उसके दोनों तलुवों को देख रहा हूँ, जो एक-दूसरे से सटे, मुझसे मुखातिब हैं। थोड़ी देर तक मुग्ध सा तकने के बाद मैं

सोचता हूँ कि ढाँप दूँ उन्हे, उसका कंबल थोड़ा खींचकर... पर सब कुछ ऐसी लय में चल रहा है कि मुझे लगता है एक उँगली की गलत थाप सब कुछ बेसुरा कर सकती है।

मेरी आँखें भी मुँदने लगी हैं। बस यही आखिरी बात सोचता रह गया था मैं कि उसे देर से जागने की आदत है और ट्रेन उस आखिरी स्टेशन पर अलसुबह ही पहुँच जाती है... तो वह जाग कैसे पाएगी! सुबह मेरी नींद पौने-पाँच पर खुली। नींद खुलते ही मुझे होटल के इस कमरे की दीवारों की जगह ट्रेन का स्टेशन पर लगना दिखाई दिया।

ट्रेन स्टेशन पर लग गई थी और देखता हूँ सारे यात्री उतर चुके हैं लगभग पर वह वैसी ही सोई पड़ी है। अभी मैं कुछ करूँ कि एक महिला सहयात्री, जो उसके सामने की निचली बर्थ पर थी यात्रा में, वह गेट तक जाकर वापस लौट आई है और उसे जगा रही है। वह चौंक कर लगभग कूदती-सी है नीचे और अगले पल अपना सामान समेटती है।

मैं भी चादर फेंक देता हूँ और अगले बीस-पच्चीस मिनट में मैं होटल के बाहर हूँ। बस-स्टैंड का रुख। और फिर एक बस-यात्रा। वह ट्रेन से मेरे कॉलेज वाले शहर पहुँच चुकी थी और मैं अग उस शहर तक जाने वाली बस में सवार था। उसे मेरे शहर में आज का बस दिन किसी तरह गुजारना था अकेले...। शाम ढलते-ढलते तो मैं पहुँच ही जाने वाला था। मैं मुस्कुराया...

इस कमरे का कोई जोड़ न था। पूरी पृथ्वी पर। कहते है (सुनते है) बीसेक साल पहले एडविन डिसूजा नाम का कोई लड़का था, जिसने माँ-बाप की मरजी का पालन करते हुए इस कॉलेज में दाखिला लिया था। इंजीनियरिंग की डिग्री लेकर आज वह भीड़ में कहाँ गुम हो गया मालूम नहीं पर उसने अपने पीछे ऐसा कमरा छोड़ा, जिसे पाने के लिए लड़के मरने-मारने पर उतारू हो जाते थे। मुझे अपने रूम पार्टनर मुदित सान्याल की कृपा से यह कमरा हासिल हुआ थर्ड ईयर में। मुदित, कॉलेज के बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज के एक प्रभावशाली मेंबर - बी डी सान्याल का सुपुत्र था और अपने आलिशान बंगले को छोड़कर छात्रावास के गरीबखाने तक रहने आया था।

इस कमरे को हासिल करने की शातिर प्लानिंग मैंने सेंकेड टर्म से ही शुरू कर दी थी और मैं मुदित सान्याल से जा चिपका। बदले में मुदित का मेरे नोट्स पर

औपनिवेशिक साम्राज्य कायम हो पाया। हम दोनों इस अन्योन्याश्रय संबंध की डोर मजबूती से थामे आए थे अब तक। उन दिनों मैंने (हमने) सिर्फ इस कमरे के बारे में सुना भर था और अपनी-अपनी कल्पना से एब्सट्रेक्ट बनाए थे। कारण कि थर्ड ईयर के सीनियरों की इस बस्ती तक फटकने की तब हमारी हिम्मत न हुआ करती थी।

हमारे फोर्थ सिमेस्टर की परीक्षा खत्म हो चुकी थी और हॉस्टल खाली हो रहा था। इसी बीच थर्ड-ईयर के लिए कमरे एलॉट हुए और हम दोनों तब पहली बार इस कमरे को देखने आए। उस दिन जब हमने इसे देखा तो हमारे शब्द गुम गए। कोई भी कुछ न बोला। काफी देर बाद जो पहला वाक्य आया वह मेरी तरफ से था और मैंने कहा - 'हम इस कमरे में बेड नहीं लगाएँगे'

मुदित ने मुझे आगे बोलने न दिया और वह एकदम से मेरे गले लग गया। हम वाकई भावुक थे। कमरे की एक सूत भी दीवार काम में न लाई गई हो... ऐसा न था। जर्रे-जर्रे में सम्मोहन था। तिल-तिल में ब्रश से ऐसी कलाकारी उकेरी गई थी और उसे देख कर हम दोनों ऐसे रोमांचित हो रहे थे कि उस वाकये से अनजान कोई हमें देखता तो समझता कि हम दोनों में ही किसी ने इन तसवीरों को उकेरा है रंगों की महीन कलाकारी से!

तत्काल मुदित ने मेरे फैसले में एक संशोधन प्रस्ताव पारित किया कि हम कोई भी फर्नीचर न रखेंगे कमरे में। दीवार में एक आलमारी थी... उसी में किताबें और कपड़े दोनों के। जज्बात से लबरेज होकर उसने कहा - 'दो जोड़े ही कपड़े रहेंगे। वीक-एंड में घर ले जाकर रिप्लेस्मेंट ले आऊँगा। किताबें भी एक सेट। नोट्स भी एक तुम्हारे...' - यहाँ तक आकर वह झेंप गया। मैं नहीं चाहता था भावुकता का यह झोंका किसी यथार्थ से टकराकर गति खो दे... मैंने उसे थामा - 'इस कमरे में न तो सिगरेट अलाउड न धुँआ...'। उसने जोड़ा - 'चप्पल जूते पहनकर घुसना भी नहीं...'

हमारे मौखिक संविधान का निर्माण भावनात्मक ज्वार के उन्हीं पलों में हुआ था पर हम उसका पालन अक्षरशः करते आए थे। ईमानदारी से। और कोई होता रूममेट मेरा तो बेड मेज कुर्सी आदि निकाल देने से छात्रावास प्रशासन हाय-तौबा मचाता पर यहाँ सान्याल ट्रेवेल्स से सारे माल की कमरे से निकासी बड़ी सुगमता से हो गई। उन्हें माइल्ड डैमेज दिखाकर डिस्पेंसरी में शिफ्ट कर दिया गया... वाया कच्चा रजिस्टर।

कमरे की सबसे बड़ी खासियत यह थी कि यह आपको कभी अकेले नहीं रहने देता। अबूझ किस्म की आकृतियाँ जो मशीनों के पुर्जे का भ्रम देती थीं... कहीं कहीं इनसान

भी... पर बेहद कशिश थी जिनमें। जब भी मैं इसे देखता इत्मीनान से हर बार कोई न कोई नई आकृति मुझे दिख जाती और आज साल-भर बीत जाने के बाद भी मैं कमरे की सारी आकृति को देख चुका था... ऐसा दावा नहीं कर सकता। मेरी क्या... मुदित की भी यही राय थी। बल्कि घर से अबकि लौटने के बाद मुझे यह शक हुआ था कि जब कमरे में एकांत होता... कोई था जो आकर नई तसवीरें उकेर जाता। हालाँकि पुरानी कोई तसवीर गायब हुई हो ऐसा मामला भी प्रकाश में न आया था और जैसा कि मैंने शुरू में कहा कमरे का अंगुल-अंगुल तसवीरों से पटा था पहले से ही। ऐसे में कैसे संभव था नई आकृति का उकेरा जाना... मालूम नहीं, पर मेरे शक को जाहिर करते ही इस बात की सचाई पर हम दोनों की आस्था हो गई। और इस आस्था की उम्र तब तक तय थी जब तक कि उस पहले दिन वाली भावुकता के अंश बाकी बचते हममें... हम दोनों में।

अपने उसी कमरे में बिस्तर पर लेटकर मैंने लैपटॉप ऑन किया। पिछले दिनों घर आने-जाने के दौरान ढो कर ले तो गया था इसे, पर उपयोग नाममात्र का ही कर पाया था। दो दिनों के लिए घर जाना हुआ था और चूँकि उसके ठीक पहले मेरे कैंपस सिलेक्शन की खबर आई थी। इसलिए घर पर लगातार बधाई देने वाले संबंधियों का आना-जाना लगा रहा। उस पर से बैंक की भाग-दौड़ अलग। आखिरी सिमेस्टर की फीस जमा करने की तारीख बीती जा रही थी और बैंक में लगातार छुट्टियाँ पड़ गईं। फिर बैंक खुलने पर वहाँ के चक्कर लगाने से पता चला कि अधिकतर स्टाफ छुट्टी से वापस नहीं लौटे थे। उसपर तुर्रा यह कि, मैं सबसे जरूरी चीज - पिछली फीस की जमा रसीद ही साथ ले जाना भूल गया था अपने साथ। मामला फिर अटक गया था और हॉस्टल वापस आकर मैंने रसीद को घर भेजने की रस्मअदायगी की, जिसके आधार पर पिताजी को फीस के पैसों का ड्राफ्ट मिल पाता।

इस भाग-दौड़, भूला-भूली, झुँझलाहट-बधाई में लैपटॉप का काम रह गया। फेसबुक पर किसिम-किसिम के संदेश थे। एक फ्रेंडशिप रिक्वेस्ट उस बैंक की भी थी, जिसने मुझे लोन दिया था। दरअसल उसी को एक्सेप्ट करने के लिए मुझे अभी के अभी नेट कनेक्ट करना पड़ा था। क्योंकि पिताजी ने ताकीद की थी कि बैंक के भेजे रिक्वेस्ट को जब मैं एक्सेप्ट करूँगा तभी मेरे लोन की आखिरी किस्त डिस्बर्स होगी। मुझे यह सब गजब का ढकोसला लग रहा था। एक मरखट से बैंक के इतने आधुनिक चोंचले। और सबसे कयामत की बात कि बैंक जैसे खरूस फेसबुक यूजर के और मेरे, छत्तीस म्युचूअल फ्रेंड भी थे!

मुदित ने चुटकी ली - 'बधाई हो! तुम दोनों की कुंडली के छत्तीसों गुण मिलते हैं।'

मैंने बैंक के उस प्रस्ताव को स्वीकार कर पिताजी को सूचना दी और लैपटॉप बंद कर दिया। कारण कि सबसे पहले मुझे श्लेषा के गरम तवे से तपते मिजाज पर छींटामारी करनी थी।

उसने एक बार देखा तक नहीं था मेरी तरफ, जब कॉलेज के मेन-गेट पर मैंने उसे टोक कर मृगा से मिलवाया था और उससे अनुरोध किया था कि कुछ दिन मृगा को वह अतिथि बना कर रखे। श्लेषा, मृगा से ऐसे हँस-हँस कर मिली मानों मेले में बिछुड़ी सखियाँ हो और बगैर मेरी ओर देखे वह मृगा का हाथ पकड़कर उसे साथ ले गई...

मैंने फौरन कल्पनाशील नायक से यर्थाथवादी युवक का चोला बदला और श्लेषा के हॉस्टल के बाहर पहुँच कर उसके नाम की परची पकड़ा दी। वह एकदम मटकती हुई बाहर निकली और मेरे बराबर में आकर खड़ी हो गई, पर देख वह इधर-उधर ऐसे रही थी मानों उसे बुलवाने वाला शख्स उसे बाहर तक बुलवा कर आप कहीं छिप गया था। मेरे आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ हरगिज नहीं छिपा था वह, क्योंकि उसकी पुतलियाँ उस वर्जित चौहद्दी को छोड़ हर तरफ उस शख्स को खोज रही थीं...। बहुत नाटकबाज लड़की थी! सच में।

'मैंने ही बुलवाया है आपको।'

वह छितराकर दूर के चबूतरे पर बैठ गई। मैं गया पीछे-पीछे।

'माँ ने कहा है मैं सिविल सर्विसेज की तैयारी करूँगी। मुझे वह नौकरी-वौकरी ज्वाइन नहीं करनी।'

उसका भी उसी बड़ी कंपनी ने कैंपस सिलेक्शन किया था, जिसमें मैं सिलेक्ट हुआ था। और 'वह नौकरी-वौकरी' से उसका इशारा उसी नौकरी की तरफ था।

'हूँ... ठीक ही कहती हैं।'

'ठीक क्यों कहती हैं?'

'अच्छा। गलत कहती हैं।'

'गलत कैसे हुईं, सबको अपने ढंग से सोचने का हक है।'

हम थोड़ी देर चुप रहे। फिर मैंने उसके दाहिने घुटने पर तलहथी रखी - 'तुम क्या चाहती हो?'

उसने मेरा हाथ उठाकर चबूतरे पर रख दिया और कहा - 'माँ ने ये तो नहीं पूछा।'

'मैं पूछता हूँ?'

'माँ के हिस्से के सवाल तुम क्यों पूछते हो?'

'ओहो। सच कहता हूँ तुम्हारा होने वाला पति शादी के पहले अगर गलती से तुमसे मिल गया तो तुम्हारी शादी कभी न हो पाएगी' - मैं रोकते-रोकते फट गया।

'और अगर गलती से मिलने की बजाय सही से मिल गया तो?'

'तो... तो उसकी ट्रेन प्लेटफॉर्म पर आने के पहले ही छूट जाएगी उससे...'

हम दोनों हँस पड़े। उसने एक मुक्का मारा मेरी जाँघ पर।

'कहाँ थे तुम?'

'सिक्रेट...'

'पचेगा नहीं ज्यादा दिन तुम्हारे भीतर'

'तुम वाकई ये जॉब ज्वाइन नहीं करोगी!'

वह अपने हाथ के नाखूनों से खेलने लगी - अभी तो काफी वक्त है। एक साल के बाद ज्वाइनिंग कॉल आएगी ही... कौन जाने!

मैंने नजरें झुका लीं।

'क्या-क्या लाए घर से खाने-पीने का...?'

यह लड़की अपने कोष में अक्सर ऐसे सवाल संचित रखती थी जो गाहे-बगाहे बड़े सवालों से कतराकर निकाल ले जाने का ढब रखते थे।

हम अपने अड्डे की ओर बढ़ने लगे थे। मैंने लगभग उसके हॉस्टल कैंपस से बाहर निकलते हुए पीछे मुड़कर देखा। श्लेषा के कमरे की खिड़की दिखती थी एंट्रेंस से... पहली मंजिल पर बाएँ से तीसरी-चौथी। शाम घिर आई थी...

'पीछे क्या देख रहे हो अब?'

'तुम्हारी रूममेट कमरे में है क्या?'

'रूममेट! तुम मंजरी को मेरी रूममेट कहके कबसे बुलाने लगे?'

'नहीं। मुझे लगा वह खिड़की पर है... थी।'

श्लेषा ने पीछे मुड़कर देखा - 'कहाँ है कोई... मंजरी काफी अपसेट है। उधर ही गई होगी' - उसका इशारा हमारे अड्डे से था। हम गेट से लगभग निकल चुके थे और अब हमें दाईं तरफ मुड़ना था। मुझे मृगा को उस तरह खिड़की के पास छोड़कर जाना अच्छा नहीं लग रहा था।

'सुना तुमने... मंजरी डिस्टर्ब है काफी!'

'उसकी क्या जरूरत है। मौके तो और भी मिलेंगे। उसे अपने टेंपरामेंट पर काबू रखना सीखना होगा। अब नहीं तो कब सीखेगी?'

'क्या तुम भी! अभी ऐसे बुरे वक्त में ऐसी कठोर बातें। अभी उसे सहज करना हमारी प्राथमिकता है न कि उपदेश देना।'

'सहज हो जाएगी तो फिर कभी न सीख पाएगी कि प्रेशर से कैसे उबरना है।'

श्लेषा तमतमाकर भी चुप रह गई।

मंजरी मुदलियार बेहद शार्प लड़की थी। साथ ही फोकस्ड और मेहनती भी। पर बिना सोचे समझे कुछ भी बोल जाती थी झोंके में। कैंपस सिलेक्शन की इंटरव्यू के दौरान मंजरी दो-एक कंपनी के बोर्ड मेंबर्स से ही उलझ गई और उसका चयन नहीं हो पाया था। हम अड्डे पर लगभग पहुँच ही गए थे। चुपचाप चलते हुए। यह कॉलेज कैंपस की वह जगह थी जहाँ लड़कियाँ भी आ जुटती थी शाम के वक्त। मंजरी वाकई वहीं थी पहले से। वह किसी लड़के की आखिरी हिचकियाँ लेती सिगरेट को उधार में माँगकर

होंठों से लगाए बैठी थी। वैसे पीने की लत थी नहीं उसे। पर डिप्रेस्ड होने का दिखावा जो न करवाए। मेरे घर जाने के पहले से वह अस्थिर थी और इस बीच के तीन-चार दिनों तक उसका उसी मनोदशा को विलंबित ताल में खिंचे चले जाना मुझे उबा रहा था। वहाँ चारों दोस्त मौजूद थे। हम दोनों भी बैठ गए। सब चुप बैठे थे पहले से तो हमने भी किसी शोक सभा में दाखिल होने की मलिनता से ही स्थान ग्रहण किया।

कुछ देर बाद मेरे लिए माहौल असहनीय हो गया और बेसाख्ता मेरे मुँह से निकला - 'मंजरी, तुम दोनों अपने बेड को आपस में सटा कर सोती हो क्या आजकल...?'

मंजरी ने सिगरेट फेंक कर मसला और भौंचक्क सी ताकने लगी मुझे।

'मैं कल अपना नया आई-पैड मँगवा रहा हूँ घर से। इस लेदर-ब्लू कलर के लिए मुझे इतने दिन इंतजार करना पड़ा। कल हम सब उस पर हाथ आजमाएँगे इकट्ठे' - मुदित ने अपने इस अटपटे वाक्य से मेरे कहे को तोपने की चेष्टा की। मैंने देखा श्लेषा मुझे निचोड़ कर पी जाने वाली नजर से घूर रही थी। सामने से गौरव ने बड़ी उत्सुकता दिखा दी मुदित के कहे संवाद में और उस नए गैजेट की विशिष्टताओं का जखीरा खड़ा किया जाने लगा। मुझे लगा दो ही बातें हो सकती थीं। या तो मेरे अजीजों को लगा कि मैं पिट जाने वाला था मंजरी मुदलियार से वहीं के वहीं... इसलिए उन्होंने अपनी उटपटाँग बातों से मेरे कहे को ढाँप लिया और सबका ध्यान मेरी बात से भटका ले गए। या फिर इतने उब चुके सब इस मातमपुर्सी के लंबे खिंचे चले जाने से कि मेरा उद्‌गार उनके लिए खाईं में ऊपर से लटकती रस्सी की तरह प्रकट हुआ, जिसे लपक कर सबने अपना उद्‌धार किया। दो-चार मिनट हुए बातों के सिलसिले के चलते हुए कि मंजरी उठ खड़ी हुई और उसने कहा - 'अब मुझे चलना चाहिए।'

वह झटके से मुड़कर चल दी। उसके अदृश्य हो जाने के बाद श्लेषा ने तमतमाकर कहा **- 'भाड़ में जाओ... तुम...'**

वह कहना चाहती थी जरूर - 'भाड़ में जाओ तुम सब...' पर मेरा दुर्भाग्य कि 'तुम...' कहते हुए उसकी नजर मुझ तक आकर ठहरी और उसने बात को वहीं समाप्त कर दिया। जो भी था, मेरी तरफ एक जोर की हुंकार उछालते हुए उसने मंजरी का अनुसरण किया।

हमने खींचकर जिंदगी से भरपूर साँस ली और दुनिया-जहान की बातों में हमारा अड्‌डा डूब गया। ऐसा नहीं था कि हम मंजरी का दुख समझ नहीं पा रहे थे पर शायद

हम सब एकांत में तो नैराश्य से दम भर उलझ लेते थे पर समूह में होने पर हम उसकी आहट को सूँघते ही एक-दूसरे से नजरें चुराने लगते थे। कारण कि कोई भी दूसरे की उपस्थिति में निराशा को पहचानने से कतराता था।

मुदित और मैं अपने कमरे के गेट से सटी दीवार से पीठ टिकाकर बरामदे पर बैठे एक ही सिगरेट को फूँक रहे थे बारी-बारी से। सिगरेट की लत हम दोनों में से किसी को न थी। पर मंजरी मुदलियार ने सुट्टा खींचकर हम सब को एक अघोषित चुनौती दे डाली थी मानों। तभी मंडली से उठते हुए सभी गैर-लतियों तक ने लाइटर की क्यू में लाइन लगा दी थी। कमरे में धुएँ से तंसवीरों के खराब होने की डर से बनाया गया हमारा नियम हमें ताला खोलने वक्त याद आया और हम वहीं बैठ कर निबटान करने लगे। बहरहाल ताला खुला और हम फर्श के गद्दे पर पसर गए। दो गद्दे, जो आपस में जुड़े हुए थे। उसी जोड़ को देखकर ही शायद मुदित को याद आया।

'तुमने अचानक से लड़कियों के बेड की तहकीकात क्यों कर दी?' - वह पूछते हुए लगातार खिलखिला रहा था। ऐसी बेसँभार हँसी, जो भीतरी अंतड़ियों से रिसकर आ रही थी - 'दोनों का चेहरा क्या बना था...'

मैं चुपचाप लेटा रहा।

'क्या हो गया था तुम्हें बॉस! श्लेषा तो...' उसकी खिलखिलाहट से मैं भी हँस पड़ा। पर उसे मेरा जवाब जानना था। वह पीछे पड़ा रहा। हारकर मुझे कहना पड़ा - ' देखो, अगर हमारे गद्दे अलग-अलग लगे होते और ऐसे में मेरा या तुम्हारा कोई गेस्ट आता तो एक ऑप्शन ये बचता कि वह जिसका अतिथि हो उसके बिस्तर पर सोए उसके साथ... यानी एक गद्दे पर दो दोस्त और दूसरे पर एक। दूसरा विकल्प ये बचता कि हम बेड मिला लेते आपस में और तीनों मजे से उस पर सो जाते...'

'तो?'

'वही। उसी लिए पूछा था।'

मैं अच्छी तरह जानता था मुदित कभी न जान पाएगा कि मेरे भीतर क्या समानांतर खेल चल रहा है आभासी दुनिया वाला! पर उसकी अचरज और कुछ न समझ पाने की हताशा मुझे आनंद दे रही थी।

'ओए... गुरुदेव... इस बेड और गेस्ट वाली बात से मंजरी के कमरे का क्या संबंध! उनके यहाँ तो कोई न आया। वे तो दो ही हैं।'

मैं हँसा। खूब आनंद मिला मुझे।

अचानक उस कमअक्ल की शक्ल के भाव बदले और उसने फुसफुसाकर कहा - 'क्या श्लेषा के अतिथि तुम बनने वाले थे आज रात! क्या उसने तुम्हें बुलाया था...' हमारी हँसी एक-दूसरे के लिए उत्प्रेरक का काम करने लगी। कमरे को गुंजाती... जिसके खोखलेपन को भरने के लिए खाँसी का एक झोंका सा आया। और हम लोगों की हँसी और खाँसी गुथ्थम-गुथ्था हो गई, इस कदर कि उन्हें अलगाना मुश्किल। बेआदतन ली गई सिगरेट की कश, शाम भर की घुटन और मजाक के सस्तेपन की डोर पर उतराते ये हल्के-फुल्के पल। मैं खुश था कि भले एक बेहूदा सवाल के तौर पर लेकिन श्लेषा और मंजरी को बेड ज्वाइंट कर लेने का विकल्प सुझा, मैंने मृगा के शयन को आरामदायक बना दिया था। दो जुड़ा बिस्तरा काफी होगा तीन लड़कियों के लिए। और श्लेषा ने भी अड्डे पर मेरे प्रति जो कठोरता दिखाई थी उसका विश्लेषण किया जाए तो यह कि मंजरी और श्लेषा को नियति ने वैशिष्ट्यि प्रदान किया था मेरा राजदार बना कर... और श्लेषा को डर था कि मैं दूसरे लड़कों के सामने उस राज को बेपर्दा कर उन दोनों का साधारणीकरन न कर दूँ।

इसके पहले कि मुदित मेरे दिमाग के पीछे चल रहे को सूँघने की कोशिश करे, मैंने उठकर गद्दे पर बैठते हुए कहा - 'चलो पढ़ाई की जाए।'

'नो...। आठ लाख का पैकेज मिला है कोई ऐरी-गैरी नौकरी नहीं। अब पढ़ने में नहीं लागे दिल।'

'पका मत! तू ये नौकरी खाख करेगा! तेरे पिताजी चौबीस लाख सालाना टैक्स भरते हैं। तू उसकी एक तिहाई के पैकेज की नौकरी करेगा! तू नहीं करने वाला।'

'यार मेरे पिताजी बड़े लकी आदमी हैं। मालदार की बेटी उड़ाई और चल पड़ी दुरांतो एक्सप्रेस।'

'तुम एक इंजीनियरिंग कॉलेज खोलवा लेना अपने नाम पर।'

'हूँ गुड आइडिया। नाम उनका रहेगा - 'स्वर्गीय बटुकेश्वर दत्त सान्याल कॉलेज...' और कर्ता-धर्ता मैं' - हम फिर हँसे।

'चल पढ़ने मुदित सान्याल वल्द बी डी सान्याल। तू फेल हो गया तो बड़ी किरकिरी हो जाएगी तेरे पिताजी की।'

'फेल! चौबीस लाख सालाना टैक्स अदा करने वाले का सुपुत्र आठ लाख सालाना की नौकरी का ऑफर पाकर खुश हो गया उससे भी बड़ा मजाक कि कॉलेज में 'प्रशासन' नाम की चीज के रहते तेरा मुदित सान्याल वल्द बी डी सान्याल फेल कर जाए।'

फिर से हँस पड़े हम।

'पर तू इतना फ्रस्टिआया सा क्यों है। मंजरी की लेवल का लुटा-पिटा लग रहा है तू।'

'एक ही बात की खुशियाँ कितने दिन मनाई जाएँ! और नौकरी पास करने के लिए फाइनल ग्रेड पास करना भी तो जरूरी।'

'कितने दिन की क्या बात! मैं तो मना रहा हूँ आज तक।'

'घर में लोगों ने इतनी खुशियाँ मना ली कि मैं एलर्जिक हो गया...'

'कहीं तू जल तो नहीं रहा इस बात से कि मुझे सबसे ज्यादा रकम की पैकेज मिली कॉलेज से।'

मैं मुस्कुराया।

'सोचो जरा कॉलेज इतिहास की अब तक की सबसे बड़ी रकम...'

'पढ़ बे! फेल ना हुआ तब भी मार्जिन पर लटका तो कितनी बेइज्जती होगी...'

'छोड़ो भी आज। कल से पढ़ेंगे। अभी हमारे कॉलेज की वेकेंसी को भरने का उपाय करते हैं। कॉलेज का कैंपस कहीं भी हो, एक्जिक्यूटिव ऑफिस इसी कमरे में होगा...। चौधराइन को भी भरती करा देंगे फैकेल्टी में।'

चौधराइन वह श्लेषा को कहता था और मुझे ये नाम पसंद न था पर अभी मुझे बुरा नहीं लग रहा था जरा भी।

'मुदलियार को प्रिंसिपल बना देंगे। सारे दोस्तों की बेकारी दूर कर दी जाएगी फैकल्टी मेंबर बना के' - वह जारी था।

'अपनी चौधराइन को काउंसिलर रख लेना। स्टुडेंट्स के मनोबल को बनाए रखेगी और सुसाइड रेशियो भी कम रहेगा तेरे कॉलेज का।'

पढ़ाई के मौसम की खुमारी हर तरफ छा गई थी। वह वक्त आ रहा था जब हमारे कमरे की बत्ती रात में भी कभी बुझाई नहीं जाती थी। हम दोनों के गद्दे पर हमसे ज्यादा जगह घेरकर किताबें आराम फरमातीं। आलमारी की सारी किताबें गद्दे पर छितरा आई थीं। रात को हम पढ़ते-पढ़ते सो जाते फिर जब नींद खुलती बैठ कर रट्टा मारने लगते। वैसे देखा जाए तो जागे पल का अनुपात सोए होने वाले पलों के अधिया से भी कम था। पर सारी किताबों के आसपास रहने से, बत्ती जली रहने से और सबसे बढ़कर प्रायोजित ढंग से न सो पाने से हमें सुकून मिलता कि हम अपनी तरफ से मेहनत में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। जागे हुए पलों का भी सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो जब दोनों साथ जाग रहे होते तो रूम की दीवारें अपने ऊपर शोध करने की चुनौती देने लगतीं और हम जागती आँखों से एक सम्मोहक और अनंत यात्रा में प्रवेश कर जाते। बाद में जरूर मैं गिल्ट में डूब जाता। पर इन सबसे उबरने का एक उपाय खोज लिया था मैंने जिससे कल्पनाशीलता के लिए स्पेस भी बची रहे और पढ़ाई भी हो सके।

मैं एक वक्त नियत कर देता। ईमानदार दो सत्रों में बाँट देता मैं समय को। आधे घंटे पढ़ाई के। फिर पंद्रह मिनट मैं जो चाहे सोच सकता था या जिस तसवीर को चाहे निहार सकता था। फिर पढ़ाई के आधे घंटे...। वैसे आधी रात के बाद यह चक्र दुहरा के कभी चल नहीं पाता क्योंकि जब बाद वाले पंद्रह मिनट का स्लॉट खत्म होने को रहता तो आखिर के कुछ पलों में अपनी आजादी को जी लेने की चाह में मैं आँखें मूँदता भर... और फिर जाग नहीं पाता एक लंबे समय तक।

बहरहाल एक दिन जब दोनों के साथ जगे होने का दौर चल रहा था और बातों की लड़ी टूट न रही थी, मैंने बदलाव के लिए नेट कनेक्ट किया और फेसबुक अकाउंट चेक किया। वहाँ और कई संदेशों के साथ एक संदेशा था बैंक का। उसमें जानकारी थी कि कोर्स समाप्ति के एक वर्ष बाद तक की मुहलत में अगर सूद भरते रहा जाए तो ईएमआई का बोझ कम होगा। ये बातें हमारे मतलब की न थी। पर एक हिकारत भरी उत्सुकता के साथ हमने बैंक के फेसबुक अकाउंट की रिसेंट स्टोरिज को क्लिक किया तो वहाँ एक सरप्राइज हमारा इंतजार कर रही थी। तुहिन शुक्ला नाम के किसी लड़के ने गुजारिश की थी कि उसे पढ़ाई के डेढ़ साल बाद तक नौकरी नहीं मिल पाई थी तो

क्या उसकी लोन के किस्त चुकाने के पहले की मोरेटोरियम अवधि बढ़ायी जा सकती है। यह तुहिन शुक्ला मेरे और बैंक के म्यूचुअल फ्रेंड में शामिल था। हम उस लड़के के फेसबुक अकाउंट पर गए तो पाया कि वह हमारे का कॉलेज का पास-आउट था। दो वर्ष पुराना जवान। जाहिर है मेरे साथ-साथ मुदित ने भी इस जानकारी को पढ़ लिया होगा। मैं तुरंत लॉग-आउट कर गया और हम आगे की पढ़ाई में जुट गए। बगैर किसी संवाद या प्रतिरोध के। उस दिन मैंने सूँघा कि मुदित सान्याल वल्द बी डी सान्याल भी अनिश्चितता से उतनी ही खौफ खाता था जितने हम जैसे 'वालिदहीन' रंगरूट।

उस शाम के बाद से हर बार मैं खाली हाथ ही लौट रहा था। रोज शाम श्लेषा के हॉस्टल जाता और उससे बीच कैंपस में बातें करते हुए कोई आकृति, कोई परछाईं, कोई आहट... खबर तक... भी न जुटा पाया था। श्लेषा ने अतिरिक्त सावधान रुख अख्तियार कर लिया था उस घटना के बाद से... जब मैंने बिस्तरों की बाबत भरी महफिल में पूछ कर उनकी किरकिरी करा दी थी। इसलिए मृगा से संबंधित कोई सुराग श्लेषा की मार्फत मेरे हाथ नहीं लग पा रहा था। जब मैं उसके साथ भी होता तो अन्यमनस्क ही रहता। पर एक दिन मेरे आगे एक चौंका देने वाला सच आया।

हम क्लास में लेक्चर के जरूरी प्वाइंट्स सरपट उतारते जा रहे थे और मुझे लगा कि मैं शुरुआत की कुछ जरूरी बातें उतार नहीं पाया था। मैंने उन्हीं छूट गई चीजों की दरियाफ्त करने के लिए श्लेषा की नोटबुक को अपनी ओर खींचा तो हैरान रह गया। मुझे लगा था कि वह तेजी से क्लास में पढ़ाया जाता सब कुछ उतार रही थी, पर वहाँ तो केवल चित्रलिपि थी...

मैंने गौर से देखा... उसने छोटी-छोटी सरल रेखाओं और वृत्तों की सहायता से जो आकृतियाँ बनाई थीं..., वे मुझे सन्न कर गईं। ये वही चित्र थे जो मृगा बनाया करती थी अपनी नोटबुक में, जिसे वह अपनी भरतनाट्यम क्लास की थियोरी लिखने के लिए प्रयोग में लाती थी। नृत्य की मुद्राओं को थियोरी लिखते समय जिस तरह रेखाओं और वृत्तों वाली आकृति से दशार्या जाता था... ये वहीं चित्र थे। छोटे वृत्त से चेहरा और उसके नीचे छोटी-बड़ी रेखाओं के जाल से दो छितराई हुई टाँग, हाथ की अलग-अलग मुद्राएँ सब बन जाती थीं।

'तुमने ये सब बनाना किससे सीखा' - मैं उससे उसी क्षण सब कुबूलवाना चाहता था। जबकि उस प्रयास का कोई मतलब न था। क्योंकि जवाब मैं जानता था और श्लेषा कभी बताने वाली थी नहीं। लेकिन यह भी हैरत भरा था कि पलटकर कॉपी छीन लेने

या कोई जला-कटा जवाब देने की जगह उसने सिर झुका लिया और चुपचाप बैठी रही।

उस वक्त मैंने गौर किया कि ऐसा पहली बार नहीं था। अक्सर वह चुप सी किसी उधेड़बुन में मग्न लगती। कब से ऐसा... मैंने जोर दिया दिमाग पर। घर से वापसी के बाद से उसे ऐसा देख रहा था... तो इसने ऐसे चित्र बनाने कहाँ से सीखा के समानांतर यह भी सोचने लगा मैं कि इसकी चुप्पी का क्या मतलब था। इस लड़की के दिमाग को पढ़ पाना आसान न था। मगर इस बाद वाली उत्सुकता का जवाब दे भी देती वह, तो भी पहले वाले सवाल की तह तक तो मुझे अकेले अपने दम पर पहुँचना था... यह तय था। जाहिर है ऐसे में अपने सवालों के जवाब तक पहुँचने का शार्टकट था - मुदलियार मार्ग।

मैंने बिल्कुल भी समय नहीं गँवाया और लंच के बाद के समय का सदुपयोग जब वह लाइब्रेरी में किया करती थी, उसी वक्त उसे धर दबोचा। मंजरी मुदलियार कॉलेज की आबादी की उस विशेष दस प्रतिशत का हिस्सा थी, जो विशुद्धतः अपने पिताओं के पैसे पर पढ़ाई कर रही थी। इसलिए शायद वह हर एक अवसर को तब्दील कर लेना चाहती थी अपने हक में। यह जुझारूपन उसमें एक अतिरिक्त एटीट्यूड भरता था जो कभी-कभी घातक साबित होता था। शुरू के पाँच-दस मिनटों में ही मैं जान गया था कि वह उस सेटबैक से पूरी तरह उबर चुकी है और वापस पहले की तरह अपने पर विश्वास से लबरेज है। इधर-उधर की बातों में ज्यादा न जाते हुए मैं सीधे मुद्दे पर आ गया। मैंने देखा - मेरे मुँह से श्लेषा का जिक्र सुनकर उसके चेहरे पर अजीब से भाव आए। उसकी हरी-नीली आँखों में एक शातिर सी चमक आ गई। मैंने गौर से देखा - वह आँखों के निचले कोर पर काजल न लगाकर उससे थोड़ा नीचे खिसकाकर मोटी रेखा खींचती थी काजल की। यही अटपटापन था शायद, जो उसकी आँखों से नजर हटने नहीं देता था। उसने भूरी कमीज पहन रखी थी, जिसके सामने के हिस्से पर चटक लाल रंग के सूत की कलाकारी थी।

मुझे एकबारगी लगा कि मेरे दोनों सवालों के जवाब उसने आँखों के निचले कोर और काजल की रेखा के बीच की जगह में छुपा रखे थे और मैं कितनी भी बेशरमी से घूरता जाऊँ, वह सब कुछ एकदम सामने ही संजोए... कुटिलता से मुस्कुराती रहेगी बस।

मैं उसे एकदम नंगई से घेरने लगा **- 'श्लेषा इतनी परेशान सी क्यों रहती है आजकल?'**

'परीक्षाएँ सिर पर हैं तो परेशान तो हम सभी रहते हैं...' - वह मजा लेती गई।

'नहीं वैसी परेशानी नहीं... चुप्पी सी'

उसने आँखें नचाकर याद किया - 'मुझे तो ऐसा महसूस नहीं हुआ।'

'ऐसा है क्या?' फिर उसी ने पलट कर पूछ लिया।

'नहीं ऐसा नहीं... मेरा मतलब था... पहले जैसी नहीं लगती' - मैं रुआँसा हो आया। मुदित बेबकूफ ने कहीं बता तो नहीं दिया था इस लड़की को कि इसे हमने प्रिंसिपल पद के लिए चुन लिया था। और उसी रोल के लिए अभी से इस लड़की ने अपनी नखरेबाजी की धार को पैना करना शुरू कर दिया था!

वह अचानक से एकदम मुलायम हो गई और उसने मेरे हाथ पर अपना हाथ रखा और कहा - 'उसी से क्यों नहीं पूछते...?'

उसकी आँखों में मेरे लिए करुणा थी, दया या कि स्नेह...! जो भी था यह लड़की बिल्कुल फिट बैठती थी उस भूमिका में, जिस पर हमने मजाक में उसके लिए रूमाल रखा था।

'वह तुम्हें अपना गहरा दोस्त मानती है। पूछोगे उससे ही तो उसे अच्छा लगेगा...' - वह जारी रही। हाँ हाथ जरूर वापस हटा लिए थे उसने।

मैं धड़के से उठ गया और जाने के लिए वापस मुड़ा... तभी उसने कहा - 'सुनो...'

मैं पलटा। उसने सिर के इशारे से मुझे बुलाया। मैं वापस झुका टेबुल पर कि वह फुसफुसाई - 'हम दोनों ने अपने बिस्तर वाकई में जोड़ लिए हैं... ' अगले पल इतनी जोर से खिलखिलाई वह कि उसकी आँखों में आँसू आ गए। उस कमरे में उपस्थित सभी हमारी ओर देखने लगे। मैं लाल पड़ गया। और तुरंत पलटकर चल दिया वहाँ से।

मंजरी मुदलियार तीन बहनों में सबसे छोटी थी और उसके पिता का कोई छोटा-मोटा व्यवसाय था। किसी भी लड़की से उसकी नहीं बनती थी। पता नहीं कैसे श्लेषा को फाँस लिया था उसने। या हो सकता है उलटा ही हो मामला। जो भी था... दोनों एक दूसरे से बिल्कुल अलग प्रवृत्ति की थीं, पर मरी जाती थीं एक-दूसरे के लिए।

शाम में मेरा कमरे से निकलने का मन नहीं हुआ। और मैं आकर कमरे में अभी लेटा ही था अकेले कि दरवाजा भड़भड़ाया। कोई मिलने आया था मुझसे गेट पर... मेरे नाम की परची लगी थी। मैं अलसाया सा उठकर हॉस्टल के दरवाजे पर पहुँचा तो देखता हूँ कि वहाँ श्लेषा खड़ी थी। मुझे करंट-सा लगा। वह आज तक नहीं आई थी कभी इस मुहाने तक। और मैं चाहता भी नहीं था कि कभी आए वह यहाँ। लड़कों के हॉस्टल की अराजकता अचानक से मेरे आगे अनावृत्त हो उठी। भीतर के कमरों से आता अट्टहास, उसे घूरकर मुस्कुराते... आते-जाते लड़के। बाल्कनी पर टँगे सूखम सूक्ष्मतर कपड़े। मेरा वश चलता तो एक हाथ से मैं हॉस्टल के 'लड़केपन' को ढाँक लेता और दूसरे से श्लेषा को ढाँपकर बचा ले जाता... कमरे की खिड़कियों से झाँकते लड़कों की नजरों से।

वह बेखबर थी इस ढाँका-तोपी की प्लैनिंग से। तभी तो उसने कहा - 'तुम्हारे कमरे में चलें?'

लगता था मुदलियार ने इसे दीक्षित करके भेजा था। मैं कुछ कहता कि इसके पहले उसने कहा - 'कुछ जरूरी कहना है।'

मैं मुड़कर चलने लगा। उसके आगे-आगे।

दरवाजा खुला और वह चप्पल उतारती गद्दे पर बैठ गई, दीवारों पर ध्यान दिए बगैर। मैं असमंजस में था कि कुंडी बंद करूँ, सटा दूँ दरवाजा केवल या खुला छोड़ दूँ...। मैंने बीच का रास्ता चुना। एक पल्ला सटा दिया और एक खुला रहने दिया।

मैं भी आकर बैठ गया गद्दे के दूसरे सिरे पर। हम चुप थे। बड़ी अकबकी के पल थे। मैंने हिम्मत जुटा कर कहा - 'कहो...'

उसने मेरी तरफ देखा... हे प्रभु! तो ये लड़कियों का नया फैशन था क्या! यह लड़की भी काली-भूरी आँखों की कोर को छोड़कर उससे सूत भर नीचे काजल की मोटी लकीर खींच कर आई थी। आज तक मैंने ध्यान न दिया! ऐसा नहीं हो सकता! यह इन दोनों की मिलीभगत थी और यह एक नया बदलाव था, जो इन दोनों ने अपनाया था।

उसने मेरी तरफ देखा और कहा - 'चलो बाहर ही चलते हैं।'

चूँकि मैं एक दूसरी बात सोचने लग गया था इसलिए उसने पहले क्या कहा था और अभी क्या कह रही थी... इसका तारतम्य न बिठा पाया। लड़खड़ा गया मैं और कहा - 'क्या कहने वाली थी तुम! जरूरी...'

उसने सिर डुलाया निराशा में - 'तुमने मेरी लय बिगाड़ दी...'

मैंने बिगाड़ी थी लय या उसने मेरी ताल बेसुरी कर दी थी!

हम फिर थोड़ी देर चुप रहे।

'मुझे डर है कि अगर मुझे कोई सरकारी नौकरी न मिल पाई तो चाचाजी लोन चुकता करेंगे। बदले में माँ को घर से हाथ धोना पड़ेगा।'

'सरकारी नौकरी से ही लोन चुकता करना जरूरी है क्या। कैंपस सिलेक्शन तो हुआ ही है तुम्हारा'

'ज्वाइनिंग कॉल आने की कितनी संभावना है ये तो तुम भी जानते हो और परिवारवाले नहीं तैयार होंगे कि मैं प्राइवेट सेक्टर की नौकरी करूँ। इधर-उधर भागती फिरूँ।'

'तो इस डिग्री के लिए इतने पैसे बुकने की क्या जरूरत थी! तुम ग्रेजुएशन भी कर सकती थी अगर सरकारी नौकरी की तैयारी ही करनी थी तो...'

'यही बात तो खाए जा रही है।'

'तुम अभी से ऐसा क्यों सोच रही हो कि ऐसा होगा या वैसा ही होगा।'

'अब नहीं सोचा तो कब आएगा सोचने का वक्त लौट के?'

'पर अब यहाँ से पीछे तो जा नहीं सकते चार साल... इसलिए बेहतर है कि तीन-चार महीने आगे ही बढ़ा जाए... हौसला रखकर।'

'सोचो जरा... अगर मैं और माँ अकेले होते तो और बस हम दोनों को ही कर्ज मिला होता तो किसी तरह... कुछ भी कर के चुकता कर देते पर परिवार की मर्यादा में ऐसे बंधे हैं कि उसकी प्रतिष्ठा पर आँच न आ जाए यह निभाते-निभाते ही हम सब कुछ गँवा देंगे और अपने दम कर्ज न चुका पाने का कलंक लगेगा सो अलग... हम बरबाद हो जाएँगे...'

मुझे लगा जिस दीवार के आगे वह बैठी थी, उस दीवार पर के चित्र मेरे पलकें झपकाते ही बदल गए और वे सब श्लेषा के परिवार और समाज के राहु-जाल में उलझ गए थे। उसके नेपथ्य का दीवार उसे जकड़ने लगा था अपने भीतर और देखते-देखते यह भी हुआ था कि चित्रों ने खुद को दाएँ-बाएँ खिसकाकर जगह बनाई और वह समाने लगी दीवार में... उसके लिए खाली की गई जगह में। मैं उसकी तरफ हाथ बढ़ाते हुए एक किस्म के लगभग आर्तनाद में फूट पड़ा - 'कुछ नहीं होगा तुम्हें...'

वह चिहुंक कर पीछे हटी पहले पल। और अगले पल वह खुलकर हँस पड़ी... पूरी दम से... निखरकर। हँसते-हँसते उसने कहा - 'माई गॉड! ... ने बिल्कुल सही कहा था... तुम तो एकदम से... भावुक...'

मैंने देखा - उसकी आँखें पनिया आईं थीं।

'किसने... किसने कहा था...?'

उसने चुप होकर तेज नजरों से मुझे देखा और कहा - 'मंजरी ने... और किसने?'

और अगले पल वह फिर हँसने लगी। मैं जरा भी आहत नहीं हुआ। क्योंकि मृगा का नाम नहीं लिया था उसने। शुक्र था मृगा इस साजिश में शामिल नहीं थी!

मैंने इसे सहज भाव से स्वीकार किया और उठते हुए कहा - 'चलो बाहर चलें।'

पर वह हँसी को बेवजह खींचती गई और उसने उसकी आड़ में अपनी आँखों से छल-छल पानी की बूँदों की कई खेप को बह जाने की वैधता दिला दी। उसके प्रति मेरे मन में करुणा जागी... क्योंकि मैंने देख लिया था कि दीवार पर पसरे समाज और परिवार के जाल ने भी उसे स्वीकार न किया था और वह उन सब की असंबद्धता को अपने मजाक के आवरण से छिपाती दूर बिखरी थी... गद्दे पर।

मैंने ऐसी ठस आवाज में कहा - 'चलो चलें...' कि उसने मजाक की पोटली को तत्क्षण समेटा और खड़ी हो गई। मैं मुड़कर चलने लगा। फिर से उसके आगे-आगे।

हमारे सामूहिक अड्डे पर पहुँचकर वह वापस चहकने लगी। बीच-बीच में मुझसे नजरें मिलतीं तो वह ऐसे मुस्कुरा देती विजयी भाव से मानों मेरे ठगे जाने को सरेआम जाहिर न कर वह अहसान कर रही हो मुझ पर। संभव था हॉस्टल से वापसी के रास्ते में उसने अपने को संयत करके ढीठ बना लिया था!

हम सबके बीच में वह एकमात्र स्टुडेंट थी, जिसके शिक्षा ऋण की राशि चार लाख से अधिक थी। उसके पिताजी नहीं थे और माँ भी कामकाजी स्त्री नहीं थी। इसलिए माँ के साथ लोन नहीं मिल पा रहा था उसे। अमूमन चार लाख तक के कर्ज पर गारंटी न लेने का सरकारी प्रावधान था। ऐसे में लोन की राशि को थोड़ा बढ़ाकर और चाचा के गारंटी देने पर उसकी पढ़ाई संभव हो पाई थी।

इस पृष्ठभूमि से, अभी थोड़ी देर पहले जो उसने बातें कही थीं... वे इस कदर मेल खा रही थीं कि उसके कहे में मजाक या खिलवाड़ की कोई गुंजाइश न थी। पर वह अपने हाव-भाव से मेरी जानकारी वाली पृष्ठभूमि को ही पूरी तरह बदल देने की कोशिश कर रही थी। एक दफे तो यह तक हुआ कि मुदलियार से खुसफुसाकर उसने कुछ कहा और दोनों मेरी तरफ देख कर ठिठियाने लगीं।

'यह रूमाल किसका है...' जैसे ही हम दोनों कमरे में दाखिल हुए... मुदित ने सवाल दागा। मैंने कंधे उचकाए। उसने पास जाकर उसकी पड़ताल की और कहा - 'जनाना वस्तु है।'

मैंने कहा - 'हाँ... मुदलियार आई थी... आई मीन श्लेषा।'

उसकी आँखें फैलीं। अगले पल उसने मौके को लपक लिया - 'यार स्पष्ट बोल... मुदलियार कि चौधराइन? किसी एक पर ही केंद्रित रख अपने आप को।'

मैंने मुस्कुराकर टालने की कोशिश की।

'क्यों आई थी?'

'मेरा मजाक उड़ाने। उसे खेलने का मन था और उसे लगा कि मुझसे खेलना दिलचस्प होगा...'

'खेलने का!' उसकी आँखें चमकीं - 'पर देखा तुमने...! रूमाल वह मेरे बिस्तर पर गिराकर गई है...'

हम दोनों ठठाकर हँस पड़े और मुझे लगा कि यह उन दोनों लड़कियों के सम्मिलित ठिठियाने का माकूल जवाब था।

पढ़ने के दौरान मैं अपना ध्यान एकाग्र नहीं कर पा रहा था क्योंकि शाम की घटनाएँ उमड़-घुमड़ कर किताब के पन्नों के ऊपर छितरा जा रही थीं। श्लेषा ने शुरू से लेकर अंत तक जो भी कहा... अगर वे सारी बातें सच थीं... तो यह कितना अश्लील था। मेरी भावुकता और कन्सर्न उनके लिए मजाक की चीज थी। ऐसा दोस्ती में नहीं होता। गहरी दोस्ती में तो हरगिज नहीं।

मैंने उचटकर लैपटॉप ऑन कर दिया और फेसबुक की ओर रुख किया। मुदित तो सदाबहार भगोड़ा था। यह ताड़ते ही कि मैं पढ़ाई में ढील अलाऊ कर रहा... वह भी सिमटकर मेरे बगल में आ गया। बैंक और मेरे जो म्यूचुअल दोस्त निकले थे, पहले दिन, उनमें से अधिकतर मेरे कॉलेज के पास आउट थे और अब उनसे दुआ सलाम कायम कर लिया था मैंने। मुदित की (और मेरी भी) दिलचस्पी तुहिन के आई डी में झाँकने की थी। वह जो जानना चाह रहा था (और मैं भी) और जाहिर नहीं कर रहा था मेरे आगे... उस सवाल का जवाब तुहिन के वार्तालापों की शृंखला में थोड़ा पीछे तक सेंध लगाने से मिला। बैंक की तरफ से विनम्रता की चाशनी में लिपटा उत्तर आया था कि लोन चुकाने के लिए तय मोरेटोरियम की अवधि को बढ़ा पाना संभव न था। और तुहिन को फौरन किस्तें जमा करना शुरू कर देना था। साथ में सात दिनों के भीतर पाँच महीने की बकाया किस्त (पैंतीस हजार सात सौ अड़सठ रुपये मात्र) जमा कर देनी थी। उस संदेश के बाद से आज तक दो दिन और गुजर चुके थे... सात दिनों में से। मैंने झटपट यह हिसाब लगाया। आश्चर्य कि इस वार्तालाप में एक भी लाइक या डिस्लाइक के अँगूठे नहीं थे और न कोई कमेंट किसी का। यानी हमारी तरह सभी यूजर इससे कतराकर निकल गए थे।

मैंने उत्सुकतावश तुहिन शुक्ला के हालिया वार्तालापों को खंगाला। वह पहले की सी जिंदादिली से अपने दोस्तों से जुड़ा हुआ था अब भी। ऐसा लगा मानों बैंक से हुए इस संवाद का कोई असर न हुआ उस पर। दिखाया तो कम-से-कम उसने ऐसा ही। मैं जैसे ही उसके पन्ने से बाहर निकला, मुदित सान्याल ने बड़ी दिलेरी की बात की - 'चलो एक रिसर्च करें कि इस कॉलेज से निकल चुके इंजीनियर्स को औसतन क्या पैकेज मिल रहा आज की तारीख में।'

सवाल तो मानीखेज था पर जवाब सनसनीखेज होता..., इसके पूरे आसार थे। शायद इसलिए मैंने लैपटॉप बंद कर दिया और कहा - 'फिर कभी। चल थोड़ी पढ़ाई कर लें।'

पर सच यह था कि तुहिन शुक्ला के अकाउंट्स पर मौजूद सूचना मेरे वजूद के नीचे से आधार को खिसका चुकी थी। वह मुझसे सीनियर था और यह सूचना आसानी से

कॉलेज कार्यालय से निकाली जा सकती थी कि उसका कैंपस सिलेक्शन किसी कंपनी ने किया था या नहीं। पर यह काम मैं अकेले करना चाहता था। क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि इस खोज के परिणाम को या कि यह खोज मेरे लिए महत्व रखती थी या कि ऐसी किसी खोज की बात मेरे दिमाग तक में आई थी... इस बात को ही..., मैं किसी से साझा करूँ।

मैंने कनखियों से देखा - मुदित की गोद की किताब बंद थी। वह खुलकर प्रतिरोध के मूड में था और छत ताक रहा था। उसके दिमाग में भी चल रहा था बहुत कुछ। क्या... यह नहीं जानता पर शर्तिया मुद्दा वही था। और कोई वक्त होता तो मैं उगलवा लेता उससे सब कुछ, पर अभी उसके चेहरे पर रेखाएँ इतनी स्पष्ट थीं तनी कि मैंने लगभग सहम कर नजरें झुका लीं। किताब पर।

अगले दो क्लास के बीच के अंतराल में सबसे बचता-बचाता मैं कार्यालय पहुँचा। वहाँ के सारे स्टाफ लड़कों को देखते ही भड़कते थे जाने क्यों! मैंने बड़ी लाल बिंदी वाली मोटी सी सांसारिक महिला को अपने विनम्र व्यवहार से पटाया और उनसे धीमे स्वर में अपनी जिज्ञासा तक पहुँचने के सूत्र की दरियाफ्त की। उन्होंने सवाल सुनकर अजीब सा मुँह बनाया मानों उसके मुँह में खीरे का कसैला टुकड़ा पड़ गया हो! अगले पल वह भुवनमोहिनी मुस्कान के साथ संयमित हुईं और कहा - 'ओई दादा से पूछो।'

जिस 'दादा' की ओर उनका इशारा था वह अपनी मुखमुद्रा में बेहद शुष्क थे। मैं गया फिर भी। सवाल सुनने के बाद उनका मुँह खुलने वाला था तो मुझे लगा कोई जोरदार बरसात होगी। छतरी का काम किस चीज से लूँगा यह बात दिमाग में आती कि इसके पहले मुँह खुला उनका। आश्चर्यजनक रूप से विनम्र आवाज में उन्होंने कहा - 'इन बातों की सूचना कार्यालय अपने पास नहीं रखता।'

उनकी आवाज की मुलामियत से मेरा मन थोड़ा और बढ़ा और मैंने कहा - 'प्लीज कहीं कोई सूचना तो रहती होगी? एग्रीमेंट की एक कॉपी कॉलेज भी तो रखी जाती होगी?'

'क्यों चाहिए?'- इस सवाल का मतलब था मेरा यह अनुमान सही था कि ऐसी सूचनाएँ कार्यालय में होंगी जरूर। पर उनके इस सवाल का जवाब तैयार नहीं था मेरे पास।

मैंने कहा - 'बस ऐसे ही। किसी पहचान वाले को एडमिशन लेना था तो उसके घर वालों ने...'

मैं क्या कह रहा था खुद मुझे पता नहीं।

सामने से फिर एक सौम्य सवाल आया - 'क्या नाम है उसका जिसका एडमिशन होना है यहाँ?'

मैं अँधेरे में घिर गया और मेरे मुँह से रास्ते की तलाश में निकला - 'मृगा...'

'मृगा...? आगे?'

'कुछ नहीं।'

मैं उठ गया। अभी उनकी सौम्य आवाज का जहर मुझ पर चढ़ ही रहा था कि कार्यालय से निकलते हुए हमारी नजरें मिलीं! हमारी - मैं बाहर निकल रहा था और मुदित सान्याल दाखिल हो रहा था कार्यालय में। मैं इसके लिए बिल्कुल भी तैयार न था। तैयारी तो उसकी भी नहीं रही होगी। पर हम दोनों ने सधा हुआ अभिनय किया और हम बगैर एक दूसरे को पहचाने निकल गए बगल से।

इस घटना ने हम दोनों के बीच एक लकीर खींच दी। श्लेषा और मंजरी अपनी आँखों के निचले कोर की मुंडेर से थोड़ा नीचे जैसी मोटी लकीरें खींचा करती थीं... वैसी ही लकीर। उस शाम जब मुदित सीटी बजाता आईने में देख-देख अपने बाल सँवारता रहा, तब मैं इसी लौ की आँच महसूसता रहा कि जिस जानकारी को हासिल करले के अभियान में मैं इस कदर अपमानित होकर लौटा था, उसे चुटकियों में उगलवा लिया होगा मुदित सान्याल वल्द बी डी सान्याल ने। मुझे यह बात ज्यादा साल रही थी कि मुदित ने एक बार भी नहीं पूछा था मुझसे कि मुझे कार्यालय जाने की जरूरत क्यों पड़ी... जबकि सभी जानते थे कि मुसीबत के वक्त में ही उस प्रदेश में विद्यार्थियों की हाजिरी लगती थी और मुदित तो यह भी जानता था कि मुसीबत का वह वक्त मुझ पर से आकर गुजर चुका था क्योंकि आखिरी इंस्टॉलमेंट के पैसों का ड्राफ्ट खुद उसके साथ जाकर हफ्तों पहले जमा करवा आया था मैं। संभव है इस हफ्ते दोस्तों का एक से बढ़कर एक घात सामने आना बदा था मेरे हिस्से... और मुश्किल यह थी कि हफ्ता अभी शुरू ही हुआ था।

इन घटनाओं से इतना आहत हुआ मैं कि सज-धज कर निकलते वक्त जब मुदित ने मुझे साथ चलने का औपचारिक निमंत्रण दिया तो मैंने मना कर दिया और लैपटॉप ऑन कर लिया। बगैर किसी लाग-लपेट मैं सीधे फेसबुक में बैंक के अकाउंट पर गया। वहाँ अलग-अलग लड़कों से किए गए रकम चुकाने के संवादों का जाल बिछा

पड़ा था। वहाँ एक सूचना यह थी कि नेहा अग्रवाल नाम की किसी लड़की ने अपना फेसबुक अकाउंट ब्लॉक कर दिया था और बैंक, रकम वसूली का नोटिस देने के लिए उसका लोकेशन ट्रेस आउट नहीं कर पा रही थी। ऐसे में उस लड़की के और बैंक के कॉमन दोस्तों से गुजारिश की गई थी कि वे नेहा अग्रवाल से संपर्क का कोई सूत्र जरूर बताएँ। मेरा कलेजा तेजी से धड़कने लगा और मैं फौरन लैपटॉप बंद करके कमरे के बाहर निकल गया।

देखते-देखते मैं कॉलेज कैंपस के बाहर निकल आया। कॉलेज मुख्य शहर से थोड़ी दूर बनाया गया था। हालाँकि अब आबादी उस तरफ भी फैलने लगी थी फिर भी शाम होते-होते सुनसानी छा जाती थी। हाइवे की तरफ पड़ता था इलाका। और उधर से होकर आने-जाने की मुख्य पब्लिक सवारी बस ही थी। मैं गेट से सटे बस-स्टैंड पर खड़ा प्रतीक्षा करने लगा। बस आई और मैं सवार हो गया। कंडक्टर ने गंतव्य की दरियाफ्त की तो मुझे किसी भी जगह का नाम न सूझा। मैंने दस रुपये बढ़ा दिए उसकी ओर और कहा - 'इतने में जो भी टिकट मिल जाए।'

वह अचानक टिकट पंच करते हुए मेरे काफी करीब झुक आया। शायद वह नाक की सहायता से यह सेंध ले रहा था कि मैं किसी नशीली चीज के प्रभाव में तो नहीं! खैर टिकट मुझे मिली। मैं अभी आराम से सिर टिकाकर बैठता कि पास खड़े कंडक्टर के हाथ से फड़फड़ाता एक और टिकट मेरी गोद में आ गिरा। उसने टिकट को मेरी गोद से उठाया और आगे की सीट पर तिरछी तरफ बढ़ा दिया। जिसके हिस्से का टिकट मुझ तक आ रहा था... उस पर एक सामान्य उत्सुक नजर उधर डाली मैंने और जर्द पड़ गया।

कंडक्टर के हाथ से टिकट लेने के लिए उसने पीछे गरदन मोड़ी थी और अब हमारी नजरों के बीच कोई न था। वह मृगा ही थी! मेरे होंठ खुल गए सवाल में और वह मुस्कुराई जवाब में। मैं कुछ भी नहीं कर पाया। बस जैसा था वैसा ही रह गया जड़। उसने पुतलियाँ घुमाईं... चारों ओर का जायजा लिया और उठकर चली आई मेरी सीट तक। उसने सिर के इशारे से मुझसे खिड़की वाली सीट तक सरकने को कहा। मैं सरक गया। और वह बैठ गई। उस सीट पर जो पहले मेरी थी।

हम अगल-बगल बैठे थे। सूत भर की दूरी पर। मैंने देखा उसकी कान से कुंडल की एक छाया लटकती थी, जो बस के हिलने-डुलने की लय में गतिशील थी। दूर से वह

लाल और नारंगी रेशमी धागे की बनी दिखती थी पर नजदीक आकर उसकी रंग और आकृति खो गई थी और अब वह एक थिरकती हुई लक्ष्मणरेखा बन गई थी। मैं जब भी उसे देखना चाहता बस उस लाल-नारंगी हद से होकर नजरें वापस लौट आतीं। मैंने याद करने की कोशिश की... कि बस-स्टॉप पर मैं अकेला खड़ा था या वह भी खड़ी थी कुछ कदम दूर और मैं देख न पाया या कि वह पहले से बस में सवार थी! मुझे बिल्कुल भी याद न आया कि बस-स्टॉप पर मैं अकेला था या और लोग थे। हद थी कि याददाश्त की पहली सीढ़ी बस कंडक्टर का गंतव्य पूछना साबित हो रही थी।

बैठा था मैं खिड़की की ओर और देख वह रही थी खिड़की के पार लगातार। बस की गति धीमी हुई और वह उठ खड़ी हुई। वह मुड़कर मुझसे बोली - ' उतरो...'

मैंने आकलन किया। अभी तो पाँच रुपये भी वसूल न हुए थे। मैंने कंडक्टर की तरफ देखा... पर उसने आँखें फेर लीं दूसरी दिशा मे।

बहरहाल, हम नीचे थे।

'यहाँ कहाँ?' - मैं फुसफुसा भर पाया।

उसने खीझते हुए कहा **- 'जहाँ जाने के लिए तुम निकले थे।'**

यह वाकई ऐसा वक्त था जब अपने बारे में, दुनिया के मुकाबिल, मैं बहुत कम जान रहा था। बहरहाल बगैर सवाल मैंने अपने आप को उसके साथ हो लेने दिया। सच पूछा जाए तो यही जिंदगी का सबसे सुखी पल था शायद। और वह भी बखूबी अपने हिस्से का सुख भोग रही थी... सड़क पर कीचड़ होता तो मेरा हाथ पकड़कर खींच देना मुझे, पीछे मुड़कर ताकीद कर लेना कि मैं बिल्कुल जरा सी दूरी पर हूँ कि नहीं। कभी गति धीमी कर देना इस अंदेशे से कि कहीं मुझे दौड़ाए तो न ले जा रही वह झोंके में!

जो अमूमन मेरे लिए करना तय था... वह उसे किए जा रही थी और मैं भी अपने समर्पण के पलों को जी रहा था। पाँचेक मिनट पैदल चलें हम और एक गैलरी के बाहर रुक गए। हम दाखिल हुए, जहाँ सूचना-पट्ट पर एक बड़ी सी घोषणा टँगी थी। मैं कुछ पढ़ पाता कि वह मुझे लगभग खींचती भीतर तक ले गई। उस कमरे की नकली छतों में नाजुक बत्तियाँ जल रही थीं और दीवारों पर...। मैं नहीं जानता उन दीवारों पर क्या था! मैंने हड़बड़ाकर चारों ओर ताका और उसकी तरफ मुड़ा - ' ये सब यहाँ कहाँ से आईं?'

'कहाँ से मतलब...?'

'ये तसवीरें यहाँ कहाँ से आईं?'

वह खिखिलाकर हँस पड़ी।

'तुम्हें क्या लगता है घर से लौटकर जब से आए हो तुम्हारे कमरे की दीवारों पर अब भी वहीं तसवीरें हैं... जो पहले थीं?'

मैंने सब कुछ समझते हुए भी सिर ' न' में डुलाया।

' तो वे रोज-रोज की बनाई नई तसवीरें जो अब पूरे दीवार पर छा गई हैं क्या ये उसी लड़के... एडविन डिसूजा ने बनाईं...! जबकि उसे हॉस्टल छोड़े अरसा हो गया...। बल्कि वह तुम्हारे कॉलेज में कभी था भी कि नहीं... इसका तक तुम्हारे पास प्रमाण नहीं! यकीन न हो तो कॉलेज ऑफिस में ' ओई दादा' के रिकॉर्ड से पूछ लेना...' वह मुस्कुराई।

' तो किसने बनाई वे नई तसवीरें?'

वह जवाब न देकर दीवार पर लगी पेंटिंग की ओर देखने लगी। इस सवाल का जवाब बेमानी था अब। मैं भी चुपचाप उसके पार्श्व में खड़ा एक-एक कर, दो-बाई-एक के फ्रेम में टँगी तसवीरों को देखता रहा। फर्क सिर्फ इतना था कि मेरे कमरे की दीवारों पर तसवीरें फ्रेम के चौखट में कैद थीं बल्कि दीवारें ही कैनवास थीं और यहाँ उन बाधाओं की औपचारिकता थी। इस चीज को हटा दें तो तसवीरें बिल्कुल सामान थीं। हम बिना आवाज किए चुपचाप तसवीरें देखते रहें और फिर बाहर निकल आए। सूचना-पट्ट को इस बार मैं ढंग से पढ़ सका और पेंटिंग करने वाले के स्थान पर उसका नाम पढ़कर मेरे रोएँ खड़े हो गए।

वह वहीं बैठ गई सीढ़ियों पर। मैं भी।

'कुछ खाने का मन है?'

पता नहीं यह सवाल था कि जवाब***!***

मैंने कहा **-** ***'यहाँ मिलेगा कुछ?'***

हम दोनों ने नजरें दौड़ाईं। वह उठने लगी। पर मैं इस दफे ज्यादा तेज साबित हुआ और भागता हुआ सा बोला - 'लेकर आता हूँ कुछ।'

जब मैं लौटा वह बस की टिकट को मोड़कर कुछ आकृति बना रही थी। उसके हाथों से गिर गई वह चीज - जो मैं लाया था उसे देखकर और उसने पुलक से भरकर समोसा और ब्रेड लपक लिया। वह इतनी तेज मुँह चलाती गई कौर भीतर लेकर कि मिनटों में उसे हिचकी उठ गई। मेरा खाना शुरू भी नहीं हुआ था... मैं उठने लगा उसके पीने के लिए कुछ लाने कि उसने इशारे से मना कर दिया और कहा - ' खाते-खाते ठीक हो जाएगी हिचकी।'

उसके भाव ऐसे कन्विंसिंग थे कि मैं बैठ गया वापस और खाने लगा। पर वह लगातार हिचकती रही। मैंने संशय से उसे देखा तो वह इतरा उठी और अगली हिचकी के बाद मुझे झटक कर कहा - 'क्या है?'

फिर अगली हिचकी - 'उफ...'

फिर अगली हिचकी - 'कभी देखा नहीं क्या किसी को हिचकते...?'

फिर अगली हिचकी - 'चुराकर लाए थे क्या कि खाते हिचकने लगी मैं...?'

फिर अगली हिचकी - 'हिचकते-हिचकते मर जाऊँगी तब गंगाजल ही लाओगे क्या सीधा!'

फिर अगली हिचकी - 'कहा तो ठीक हो जाएगी बाबा!'

फिर अगली हिचकी - 'कितना वक्त लगता है तुम्हें खाने में जबकि मेरा कब का... खाना खत्म हुआ।'

मैं अब पानी खोजने के लिए पूरी तरह तैयार था। मैंने हाथ झाड़ते हुए उसकी तरफ देखा... मुझे कहीं जाने की जरूरत नहीं थी। इस वक्त तक मैं जमीन पर पैर गड़ाए लगभग उठ जाने की मुद्रा में आ चुका था पर उसे देखते ही मैं वापस बैठ गया। उसकी आँखों से इतना पानी बह चुका था जो हिचकी के किसी भी ज्वार को पाटने के लिए पर्याप्त था। फिर भी वह हिचके जा रही थी। उसने कोई प्रयास न किया कुछ भी छिपाने का। मैं कितना असंवेदनशील था... इसका अहसास मुझे इस क्षण हुआ। क्योंकि उसकी लोर-झोर बहतीं आँखों को देखकर मेरे मन में जो आया वह यह कि ऐसी बाढ़ में यह ट्रेस-आउट कर पाना मेरे लिए संभव न था कि वह भी दूसरी

लड़कियों की तरह आँखों के निचले कोर से खिसकाकर काजल लगाने लगी थी क्या...! हे भगवान! मैं तड़पकर उठा और पानी लेकर हाजिर हुआ।

लौटकर आया मैं तो वह सब समेट चुकी थी। उसका सिर झुका था। वह शर्मिंदा थी... शायद मेरी प्रतिक्रिया पर। मेरे आ चुकने का अहसास होते ही वह उठकर खड़ी हो गई... मुझे उसके चेहरे तक देखने की हिम्मत न हुई पर उसकी आकृति इतनी स्वाभिमानी थी कि मैं पानी वाला हाथ बढ़ा न सका। वह चल पड़ी आगे-आगे। मैं पीछे-पीछे। अचानक मैं मुड़ा और मैंने उस शाम का सबसे खूबसूरत काम किया। मैं झुका और मैंने जमीन पर ग्लास रखा और वहीं छिटक कर गिरी बस के टिकट से बनी आकृति उठा ली। यकीन मानिए उसे उठाते ही मुझमें गजब का हौसला पैदा हो गया। मुझे लगा कि जिन संभावनाशील यादगार पलों को गँवा बैठा था मैं अपनी नादानी में, उन सबको वापस पाया जा सकता था। मैं दौड़कर उसके आगे तक गया और मैंने कहा - ' अब मैं आगे चलूँगा और तुम्हें इस तेजी से चलना होगा कि हर बार...'

उसकी आँखें चमकीं। धुली हुईं। वह समझ गई थी। यह हमारा पुराना खेल था। मैं तेज चलता और उसे इस तरह पीछा करना होता कि हर बार मेरी चप्पल के पिछले हिस्से पर उसकी चप्पल का अगला हिस्सा पड़ा। इस खेल में एक गति थी, एक लय थी। एक बार जब हम इस रिद्म को पा जाते तो सब कुछ मजेदार हो जाता और पूरी रेल-पेल वाली सड़क पर बस दो ही जीव बचते - वह और मैं! और जैसी अपेक्षा थी हमने चलना शुरू किया और लय पा ली। कुछ भी नहीं बदला था हमारे बीच। मैं उसी तरह चलते हुए दोनों हाथों को फैलाकर एक कवच सा बना रहा था दूसरे राहगीरों और दुपहिया वाहनों से उसके लिए और वह आनंद और जोश के अतिरेक में शोर मचा रही थी खिलखिलाती। इस भागदौड़ में घाटा यही हुआ कि वापसी का रास्ता मिनटों में तय हो गया। पर लाभ यह कि हम धड़कने लगे थे वापस। जीवन से।

बस में बैठते ही मुझे अहसास हुआ कि उसकी हिचकी रुक गई थी। उसने पानी लेने से इनकार कर दिया था पर उसके दिमाग को दूसरी तरफ मोड़ने की मेरी तरकीब काम कर गई थी और यह नुस्खा पानी का विकल्प बनकर उभरा था हिचकी निवारण में।

फिर वह धीमे से मेरी कानों में फुसफुसाई - ' ध्यान से देखो वही बस है... वही कंडक्टर। तुम कह सकते हो कि वापसी के टिकट का पैसा मैंने जाते समय ही दे दिया था...' - वह खिलखिला पड़ी और मैं झेंप गया। जब वह अपने और मेरे हिस्से के

टिकट खरीद रही थी तो एक बार कंडक्टर की और मेरी नजरें मिलीं और मैंने महसूस किया कि हम दोनों ने फौरन अपनी-अपनी नजरें फेर लीं अलग दिशाओं में।

यही वक्त था जब मैंने अपनी खुशकिस्मती के बारे में सोचना शुरू कर दिया। मैं जितना पा लेने का हकदार था उससे कहीं ज्यादा,किस्मत मेरे पार्श्व में ला कर रख दे रही थी गाहे-बगाहे। उस वक्त मैं अपने किरदार से अपने परिवेश से (यहाँ तक कि बस की सीट से भी) इंच भर ऊपर उठ चुका था और यह वह स्थल था जहाँ से राग-द्वेष, सफलता-असफलता, रंज-खुशी... सब का रंग एक दिखता था। एक सा सफेद। यह आत्माओं के प्रेम का रंग था जिसके चटकीलेपन के वैभव के आगे सारी रंगीनी बेनूर लग रही थी।

मैं इस सफेद रंग के आकर्षण में डूबा कमरे तक चला आया ...कब बस से उतरा... किस रास्ते उसका साथ छूटा... सब बातें समा गई थीं उसी सफेद जाल में।

कमरे का दरवाजा खुला था और जैसे ही मैं दाखिल हुआ... मुदित एक जिम्मेदार अभिभावक की तरह मुझ पर टूट पड़ा। उसके कहे से तालमेल बैठाने में मैंने थोड़ा वक्त लिया। दरअसल रोशनी और कमरे की दीवारों पर बिखरे रंग से लय साधने में भी मुझे समय लगा। मुझे क्या... किसी को भी लगता... क्योंकि दीवार का हर एक चित्र बदल चुका था। बिल्कुल नए पैटर्न की कलाकारी थी। मैं मुस्कुराया और मुदित को दिखाया - दीवार की तरफ इशारे से।

वह बौखलाया - 'गोली मार दीवारों को... पहले बता कहाँ था और मोबाइल क्यों नहीं उठाया?'

मोबाइल मैंने उसके हवाले कर दिया और मैं चप्पल के फीते खोलने लगा।

वह चिल्लाया - 'मेरे छत्तीस मिस्ड कॉल।'

उसने मेरा मोबाइल नचा कर फेंक दिया गद्दे पर।

'बी एम जे' - वह चिल्लाया।

मैं मुस्कुराया - 'बी एम जे हमारा कोड-वर्ड था - 'भाड़ में जाओ' के लिए।

मैं गद्दे पर पसर गया - 'जन्नत से आ रहा हूँ। अब कहीं नहीं जा सकता।'

'कहाँ थे तुम?'

'ऑफिस गया था। कॉलेज ऑफिस में' - मैंने आँख मारी।

'मजाक नहीं। मैं कितना परेशान था।'

'बात क्यों बदल रहा बे। कॉलेज ऑफिस का जिक्र सुनकर झटका लगा तुम्हें!'

'भाड़ में जाए कॉलेज ऑफिस। कहाँ थे तुम?'

'आह...! कोई इस राज को मुझसे छीन नहीं सकता। मैं उस जादूगर से मिलने गया था जिसने इस कमरे के सारे चित्र गायब कर दिए और नई तसवीरों से पाट दिया था दीवारों को... तुम्हारे देखते-देखते।'

उसने गौर से देखा और कहा - 'यह भुतहा कमरा है और कल ही मैं घर शिफ्ट कर रहा हूँ।'

'उसी की अर्जी देने दोपहर में ऑफिस गए थे क्या?'

'तू क्यों गया था बे ऑफिस?'

'मैं तो नाकाम होने गया था। यह अहसास पाने कि मैं बी डी सान्याल का नहीं बलराम यादव का सुपुत्र हूँ।'

वह अचानक से गमगीन हो गया। मैंने तलुवे से उसे टोंगा। वह फिर भी चुप ही रहा और मेरे पार्श्व में अपने तकिए पर लेट गया।

'क्या हुआ... वर्ग-विभेद का दंश गहरा लगा क्या!'

वह फिर भी चुप रहा। मुझे यकीन था कि वह इतनी जल्दी बुरा मान जाने वाला जीव था नहीं। पर चुप्पी कायम रही। मैंने ठहरकर फिर एक प्रयास किया - 'क्यों इतनी ओवर ऐक्टिंग कर रहे हो भाई?'

मैं वाक्य खत्म करता उससे पहले ही उसने कहा - 'तुहिन शर्मा का कैंपस सिलेक्शन हुआ था।'

मैं चौंक कर बैठ गया।

'तुम्हें सुबह से पता था!' - मैंने पूछा। मुझे उसकी सीटी बजाकर बाल सँवारती शाम की छवि याद आई।

'नहीं। शाम में जब मैं अड्डे की तरफ जाने के लिए निकला तो समीर दा ने कन्फर्म किया रास्ते में। वे घर जाने की बस पकड़ने निकल रहे थे कैंपस से तभी।'

मुदित ने बताया उसका सार यह कि दिन में 'दादा' (उसके समीर दा) ने उससे वायदा किया था कि वे समय देखकर रिकार्डस में से यह खबर बीन कर रखेंगे और शाम तक सूचना उनके हाथ में थी। किस कंपनी में हुआ था सिलेक्शन यह बताने के लिए समीर दा ने वक्त माँगा था।

'जैसे ही मुझे खबर मिली मैं दौड़ा-दौड़ा कमरे में आया। पर तुम गायब थे। मैंने तुरंत फोन मिलाया जानकारी देने के लिए पर जनाब तो मानिनी नायिका की तिनपैसिया नकल उतार रहे थे। कितनी बार ट्राई किया मैंने ...उफ...।'

वह मेरे पास आ गया... दीवारों से लगा।

'कितना छटपटाया मैं अकेला...। कैन यू विलीव तुहिन शुक्ला का कैंपस सिलेक्शन हो चुका था। यहाँ से निकलने के तीन महीने पहले ही! पर दो साल होने को आए। अभी तक...'

'उसके फेसबुक के अपडेट्स पढ़कर तो नहीं लगता कि उस पर कोई असर हुआ इन सबका...। हो सकता है झूठ बोल रहा हो कि नौकरी नहीं मिली... बैंक के पैसे भरने के डर से' - यह मैं था! जबकि ऐसी किसी संभावना का ख्याल मेरे जेहन में पहले कभी आया न था। फिर भी न जाने इस क्षण कैसे यह कौंधा और बात निकल भी गई... खुद मुझ ही को चौंकाती। तो ऐसे में मुदित को ठेस लगनी जायज थी। उसने अचरज से मुझे देखा। हल्की घृणा के साये भी थे शायद।

यह क्या कर बैठा था मैं! वर्ग-विभेद की यह नई-नई खिंची लकीर, जो मद्धम होती सी जान पड़ी थी, पुनः नाटकीयता से उभर गई हमारे बीच। फर्क यही था कि इस बार हमने पाला बदल लिया था और मेरे भीतर का एक क्रूर यथार्थ उघड़ गया था। यह उस रात का हमारा आखिरी संवाद साबित हुआ और हम जल्द ही चादरों में दुबक गए। काफी अंतराल के बाद आज की रात बत्ती का बुझ पाना नसीब हुआ था कमरे को। उसने क्यों अपने को अँधेरे में छुपा लेना चुना था पता नहीं, पर मेरे पास वजहें कई थीं। कॉलेज ऑफिस से निकलते हुए मुदित और मेरा टकराना, गैलरी की दीवार

पर फ्रेम में कैद अपने कमरे के चित्रों को देखना, मुदित की यह सूचना कि उस लड़के का चयन हो गया था नौकरी के लिए, फिर अंत की जायका खराब करने वाली मेरी टिप्पणी... और सबसे बढ़कर मृगा के आँसुओं से बिंधे चेहरे की वह झलक... जब मैं उसके लिए पानी लाने उठ रहा था।

जिंदगी की कड़वी से कड़वी सचाइयों का मैं तब भी सामना कर लेता किसी जुगत से, पर उसके पनियाए... थरथराते चेहरे का सामना कर पाना इस रोशनीविहीन एकांत में भी संभव न हो पा रहा था किसी विधि। जबकि मेरे पास शर्मसार होने की या उससे आँखें चुराने की कोई वजह न थी। हमने कोई वायदे नहीं किए थे कभी... जिनके टूटने के आसार हों, कोई माँग यहाँ तक कि कोई रिश्ता भी नहीं...। फिर भी जाने क्यों था ऐसा कि उसके आँसुओं पर मेरे वजूद के निशान दिख जा रहे थे मुझे। और उससे भी काट कर रख दे रही थी यह बात मुझे कि उसने अपने आँसुओं को छिपाने की चेष्टा नहीं की। उससे आगे के और उसके बाद के सब गुदगुदाते पलों पर भारी पड़ गया वह क्षण भर का दृश्य...

बीच रात में नींद खुली और मैंने लगभग आँखें मूँदे-मूँदे ही दरवाजा खोला और लॉबी पार कर हॉस्टल के शौचालय तक गया। वहाँ से लौटते वक्त भी मैं लगभग लड़खड़ा ही रहा था कि मुझे अहसास हुआ कि उठकर कमरे से निकलने के पहले गद्दे पर लाँघना नहीं पड़ा था मुझे किसी के जोड़ी भर पैरों को... बिस्तर से उतरते वक्त! और दरवाजा भी बंद न था। बस सटा था दरवाजा कमरे का। मुदित...। मैंने पूरी ताकत लगाकर आँखें खोलीं किसी तरह तो देखता हूँ कि वहीं कमरे से बाहर लॉबी के कोने पर पैर नीचे की तरफ लटकाए... बैठा था वह। मैं कुछ पल खड़ा रह गया वहीं। फिर उसकी बगल की जगह में जाकर बैठ गया।

'तुम उतने यकीन से कैसे कह रहे थे कि तुहिन ने झूठ कहा होगा!'

'मैंने अंदाज किया था बस' - सोए से जागा होने के कारण मेरी जुबान चिपक रही थी बेतरह।

'बाहर क्यों बैठा है?' - मैं जारी था।

'कुछ तो हमें करना होगा...'

'क्या?'

'इस खेल के खिलाफ। कुकुरमुत्ते जैसे इंजीनियरिंग कॉलेज, सीट की एलॉकेशन, कमजोर फैकल्टी, कैंपस सिलेक्शन का फरेब और आखिर में हमारे बरबाद चार-पाँच साल और आगे अंधी सुरंग... हमें कुछ करना होगा इसके लिए अशेष...'

'पर तुझे क्या फर्क पड़ता है इन सबसे**?**'

'पड़ता है...' - वह फुसफुसाया - 'मुझे ही सबसे ज्यादा फर्क पड़ता है। तुम अशेष... वह तुहिन..., वे गौरव, चिरायु... और मैं...! मैं मुदित सान्याल! मेरे लिए मुदित बन पाने का यह आखिरी मौका है। अपने पिता से अपना वजूद अलगा लेने का यह आखिरी दाँव। मुदित सान्याल वल्द बी डी सान्याल... कब तक!'

मेरे लिए यह कयामत की घड़ी थी। क्योंकि उसका चेहरा जो देखा मैंने, वह उसी तरह आँसुओं से धुला था, जैसा कि पिछली शाम के धुंधलके में उस लड़की का चेहरा था! क्या इसके आगे मुझे एक नई भूमिका में प्रवेश कर जाना था!

एक अंधड़ सा था, जो सब कुछ उड़ाए चले जा रहा था। हमारा आगा-पीछा, जड़-चेतन, सत-असत... सब उड़ियाए चले जा रहे थे। कभी तपते तवे पर चलते हुए हमारे तलवे झुलस जाते तो हम घुटने और तलहथी के बल चलने लगते। कभी पानी के उद्दाम प्रवाह में उफनाते अपने पैरों और हाथ से पानी को काटते और उसे अपने अनुकूल बनाते... कभी हमारे भविष्य के रक्तरंजित जख्म पर हमारे ही पसीने की बूँद टपक जाती और उसके नमक की छनछनाहट को हम ही हरने की कोशिश करते अपनी फूँक से। हम मथे चले जा रहे थे समुद्र को... और अमृत और विष का कोई अलग बही-खाता न था। हमारे पर मंडराता... जो नीला साया था दुख का, वह विष शायद और जो हमारी आँखों से बहे जाता था बेहिसाब... वही अमृत।

शुरुआत में हम दो थे। पर अमीबा की तेजी से म्युटोसिस का करतब दिखाकर हम एक प्रजाति हो चुके थे। सूचनाओं से लबरेज एक प्रजाति। श्लेषा, मंजरी, गौरव, चिरायु, ...से लेकर फेसबुक के मेरे और बैंक के छत्तीसों कॉमन फ्रेंड और न जाने कौन-कौन...।

कभी जब संवेदनाएँ छू जा रही थीं बचपन की गलियों को तो हम कच्चे टिकोले के ढेले चलाकर टिकोले से टिकोले तोड़ने की करतब का स्वाद लेने लगते, कभी जब वर्तमान से वर्तमान टकराता तो कितने गिले-शिकवे, झिड़क-चुहल, हँसी-फुलझड़ी,

लंगड़ी-पटकनी... के दौर चल पड़ते और जब भविष्य की बात आती तब तलवार भाँजते हमारे हाथ अक्सर खुद हमें जख्मी कर जाते।

हम निकले थे कुछ गुँथे हुए सवालों के घेरे में गोल-गोल घूमते... चकराते, पर अब परिधि का अहसास मिट गया था और हम हर उस चीज को सवाल समझ कर उससे टकराने लगे थे जो हमारी सरहद से होकर गुजरने लगी थी।

यह प्रस्थान था किसी अंत का

या अंत था... किसी आरंभ की बाट जोहता...

यह तलाश थी अपने पैरों के पिछले निशान की

या भटकन थी अपने अगले निशान तक पहुँचने की

यह जुनून था जो जहाँ नहीं मिलेगा उसे वहीं पाने का

या जिद थी... जो जहाँ मिलता उसे वहाँ नहीं ढूँढ़ने की

यह परवाह थी अपनी जड़ों को बचाए रखने की

या बेपरवाही थी अपनी परछाईं को गँवा देने की

यह कोशिश थी अपने आप को समेट लेने की

या आजादी थी पंख भर आसमान को खोल देने की...

...जो भी था... इसकी शुरुआत हो चुकी थी...

यह तय था!

'सत्तर प्रतिशत कॉलेज पॉलिटिशियंस के हैं और पूँजी बस यह लगानी कि एआईसीटीसी या यूजीसी का अप्रूवल लेना किसी तरह। उसके बाद खुला खेल फार्रूखी। कहीं कुछ बचता नहीं है' - यह मंजरी मुदलियार थी।

'बैंक का लोन चार लाख तक गारंटी नहीं माँगता तो फीस की बँधी-बधाई रकम चार लाख के इर्द-गिर्द नाचती। हॉस्टल, मेस और किताबों का लाख-डेढ़ लाख अलग से। कितना भ्रष्ट है यह तंत्र।'

'भ्रष्ट ही है तो क्या किया - हमने और तुमने! हम भी तो पाँच लाख रुपये और अपने पाँच साल लेकर कूद पड़े इसी दावानल में' - मुदित आजकल ज्यादातर चौंकाता ही था।

'कूल यार! टेक्नीकल डिग्री के बगैर गुजारा कहाँ। कोई गुनाह तो नहीं किया हमने?'

'गुनाह ही किया है। इतना सब कुछ गँवा कर अगर बिस्कुट बेचने लायक ही योग्यता जुटा पाए तो गुनाह ही कर रहे हैं' - वह उठ खड़ा हुआ।

'बैठ सान्याल! चिल यार।'

'बात इतनी स्याह सफेद नहीं है। पहले दक्षिण के राज्य सक्रिय थे पर अब छोटे गरीब राज्यों में भी कुकुरमुत्ते की तरह खुले हैं ये कॉलेज। फर एक्जांपल टेक ओडीशा। दुनिया भर के कॉलेज। सभी अप्रूव्ड। कम से कम साठ-साठ सीटें सभी एक्सट्रीम की। तीस-बत्तीस लाख बच्चे सालाना दाखिला लेते हैं देश भर में और सबसे अजीब बात कि एंट्रेंस परीक्षा में 'माइनस' में नंबर पाने वाले लड़के भी सिलेक्ट हो जाते हैं इनमें।'

'तेरा इशारा क्या मुदित की तरफ है...' - गौरव ने मुझे टोका और अड्डा ठहाकों में गूँज गया। शुक्र है हमारा मुदित भी मुस्कुराया। भले हलके।

'फिर शुरू होता है सिमेस्टर में फेल होने का सिलसिला। फेल होते जाइए और अगले साल की फीस जमा करके आगे भी बढ़ते जाइए' - मैंने बात का सिरा दुबारे पकड़ा - 'और पूरी फीस चुकता कर चुकने पर कैंपस सिलेक्शन का खेल...'

'पर स्थिति इतनी बुरी भी नहीं है। प्राइवेट जॉब में निभा पाने की समस्या है। पर जो टिक पाते हैं वे अच्छा कमा लेते हैं।'

'चिरायु! यार तथाकथित नहीं टिकने वालों का प्रतिशत, टिकने वालों से कहीं ज्यादा है। बहुत ज्यादा।'

'कल गूगल में सर्च किया तो पाया कि रिश्वत लेकर सीट एलॉकेशन के मामले में एआईसीटीसी के उच्च अधिकारियों पर मुकदमा चल रहा है। यानी पढ़ाई शुरू होने के

पहले घूस। और आखिर में कैंपस सिलेक्शन के नाम पर भी कॉलेज और बड़ी कंपनियों का तालमेल। कॉलेजेज अपनी दुकान चमकाने के लिए कैंपस सिलेक्शन का जुगाड़ खुद करती हैं। जाहिर है इस जुगाड़ अध्याय का पैसा भी हमीं से वसूला जाता होगा किसी न किसी रूप में' - मुदित ने 'सनसनी' के श्रीवर्धन त्रिवेदी की तर्ज पर आवाज के उतार-चढ़ाव को साधने की कोशिश की।

अभी हमारी हँसी पूरी हो पाती कि गौरव ने उद्घोषणा की - 'हे पुत्रों! सारतः यह पूरा शिक्षातंत्र एक गलीज कीचतंत्र है और हम सब भी सिर से लेकर पाँव तक छींटदार वस्त्र पहने हैं।'

मैंने इसके बाद की हँसी और नोंक-झोंक का फायदा उठाया और श्लेषा के करीब खिसक आया। वह वहाँ होकर भी नहीं थी।

'क्या है**?**' मैं उसके पास जाकर फुसफुसाया।

पर मुदित कमबख्त ने मेरा खेल बिगाड़ दिया। उसने घोषणा की - 'मित्रो! अभी तक हमारी प्रतिक्रियाओं का बारीकी से जायजा लेतीं हमारी धीर-गंभीर साथी श्लेषा अपने विचार रखेंगी।'

'धीर-गंभीर' वाली बात पर मुदलियार ने भौंहें चमकाईं - यह मैंने नोटिस किया। वजह शायद कि इन दो शब्दों पर वह अपना एकाधिकार समझती थी।

श्लेषा ने मुदित की बात का मान रखा और सबको अचरज में डालती उठ खड़ी हो गई।

गौरव ने भी भौंहे उचकाई हैरत में और पल्लव के हाथ में से एक पत्रिका लेकर उसे गोल मोड़कर माइक की शक्ल दी और श्लेषा की तरफ बढ़ा दिया।

श्लेषा ने थाम लिया उस माइक को और वह शुरू हो गई - 'दोस्तों। आप सब की बातें सुनते हुए मैं उस दिन को याद कर रही थी जब मुझे यह पता चला कि जिन छात्रों के माता-पिता उन्हें अपने पैसों से तकनीकि शिक्षा नहीं दिलवा पाते हैं, उन्हें बैंक से पैसे मिलते हैं। सरकारी पैसे - ऐसा मुझे बताया गया था। पढ़ कर नौकरी के बाद जिसे चुका देना था मुझे। उस दिन मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे नागरिक होने की भूमिका शुरू होने वाली है... क्योंकि राज्य मेरे भविष्य में निवेश करने वाला है...'

मुझे ऐसा लगा कि मेरे रोंगटे खड़े होने शुरू हो गए थे**...** शायद बाकियों के भी**...**।

वह बोलती गई... - 'मैंने माँ को अरसे बाद एकांत में गुनगुनाते पकड़ा था। जब तत्काल एडमिशन के पैसे और बैंक लोन के बाद बची मार्जिन राशि जमा करने के लिए माँ को अपने हिस्से के खेत का एक छोटा टुकड़ा बेचना पड़ा तो उस दिन उसके चेहरे पर पराई होती जमीन के बिछोह की जगह 'संपत्ति वक्त पर काम न आएगी तो क्या फायदा उसका...' का सांसारिक तोष फैल गया था। मैं जब लोन के लिए बैंक के चक्कर लगाती और नई-नई नियमावलियाँ हमें उलझा लेतीं तो मैं बजाय खीझ या तकलीफ के इस भाव से खुशी-खुशी उस प्रक्रिया का हिस्सा बनती कि बैंक, सरकार के पैसों को सही हाथों तक पहुँचाने के लिए नियमों के इतने महीन छन्ने लगाए बैठी थी। वहाँ मिलने वाली दुत्कार या फटकार मुझे जरा भी विचलित नहीं कर पाती।'

'मैं बिला-नागा बैंक जाती और एक लंबी अंतहीन प्रक्रिया का हिस्सा बन जाती तत्परता से। एक दिन ऐसा आया जब हमने कुछ कागजातों पर दस्तखत किए और मेरे नाम से एक खाता खुल गया बैंक में। एक ऐसा खाता जिसका आरंभ ही ऋणात्मक था। कुछ भी संचित होने के पहले ही देनदारी चढ़ गई थी मुझ पर लेकिन मैं संतुष्ट थी। इस सोच के साथ कि राज्य की नियत की गई राशि पाकर मेरा अधिकार पूरा हो गया और आगे अब मेरे कर्तव्य निभाने की बारी थी। मैं जब भी उस खाते से निकाली गई राशि का ड्राफ्ट लाकर सुपुर्द करती कॉलेज में तो मेरा अचेतन गहराई से इस कर्तव्यबोध को उकेर कर लिख देता मेरे आगे। पर जैसे-जैसे मैं इस तकनीकि शिक्षा के अगले मुकाम पर पहुँचती गई... मेरी भावनाएँ इतनी एकरेखीय और सपाट न रहीं। एक विश्वास और संकल्प जो आरंभ में जागा था भीतर और जिसे मैं आगे की घटनाओं की नींव समझ रही थी, वह चीज... उसकी जमीन दरकने लग गई थी।'

'मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं किताबों के पन्ने पलटती, उसकी सूचनाएँ घोंटती, एक ऐसी दौड़ का हिस्सा बन गई हूँ जिसमें मेरी उम्र के देश के लगभग एक चौथाई लोग भाग ले रहे थे। हरेक साल तकरीबन पैंतीस लाख लोग जुट जाते इस दौड़ में। बल्कि अभी शायद मैं उस दौड़ में शामिल तक न थी और जिसे मैं रेस समझ रही थी, वह उसकी तैयारी का मुजाहिरा मात्र था। जिस दिन मैं सच की रेस में शामिल होती... यानी जब रोजगार की स्टार्टिंग प्वांइट पर खड़ी होती - उस दिन मेरी झोली में गुजर चुके चार-पाँच साल और छह अंकों की कर्ज राशि होती। मैं यह भी मानती हूँ कि स्टार्टिंग प्वाइंट पर खड़े बच्चों में से तकरीबन पचास फीसदी बच्चों की झोली मेरे जैसी ही होगी और सिर्फ इस वजह से कि स्थितियाँ ऐसी थीं मैं भाग नहीं सकती इस सचाई से। दौड़ मुझे हर हाल में पूरी करनी ही है। बल्कि दौड़ की तैयारी की भूमिका

में भी झोंक डालना है मुझे सब कुछ। और दौड़ शायद मैं जीत भी जाऊँ। पर दोस्तों... क्या मैं तब भी अपने नागरिक होने की भूमिका के प्रति वैसी आस्थावान रह पाऊँगी!'

'शायद नहीं क्योंकि तब तक इस सच से मेरा साबका हो चुका होगा कि राज्य ने निवेश मेरे भविष्य में नहीं... बल्कि अपने भविष्य में किया था। यहाँ सब कुछ बिका हुआ था। मेरी शिक्षा का मोल तय हुआ राज्य की निवेश राशि से। फिर वह राशि गई उन संस्थानों को जो सरकार और पूँजीपतियों की बंदरबाँट के घाव से बजबजा रहे हैं। मैं तो एक माध्यम भर थी निवेश राशि के हस्तांतरण की। जो मेरे जैसे लोगों का पैसा था... पब्लिक मनी, वही 'राज्य का पैसा' के नाम पर हस्तांतरित हुआ पूँजीपति घरानों में और इस हेरा-फेरी की एवज में दौड़ की स्टार्टिंग प्वांइट पर खड़ी मैं - कर्जदार घोषित कर दी गई।'

'जानते हैं आप सब कि मैं वह दौड़ कैसे पूरी करूँगी! क्या उच्च तकनीकि शिक्षा, सुरक्षित भविष्य के सपने और अपनी मेहनत को मुकाम तक पहुँचाने के उमंग से भरकर... नहीं! बल्कि शायद मैं वह दौड़ इसलिए पूरी करूँगी क्योंकि जब भी मैं पीछे मुड़कर देखूँगी... मुझे अपना कर्ज बेतहाशा भागता दिखाई देगा अपने पीछे...! मूल-सूद समेत दीर्घकाय... पर चौकस कर्ज। जो तीन डेग अतिरिक्त भर ले तो मैं डिफॉल्टर साबित हो सकती थी। मेरा खेल खत्म हो सकता था। सब कुछ समाप्त। और जिस दिन मैं फीनिशिंग लाइन पर पहुँचकर लड़खड़ाती पानी की बॉटल ढूँढूँगी... उस दिन मेरे भीतर का नागरिक सूख चुका होगा जड़ से... शर्तिया'

मेरे भीतर का भी कुछ सूख चुका होता अगर कि अपनी बात खत्म करते ही श्लेषा 'धन्यवाद' के साथ झुककर सबका अभिवादन न करने लग जाती और गौरव ने उसके हाथ का माइक थामकर 'नागरिक बनाम राज्य' नामक मोनोलॉग के खत्म होने की घोषणा न की होती और बाकी सब ने सीटियों और तालियों से उसका अभिवादन न किया होता! श्लेषा मचल कर तारीफें इकट्ठा कर रही थी और सब उस पर टूट पड़े थे प्रतिक्रियाओं के साथ। इस घड़ी मैंने अपने आप को बेहद ठगा हुआ सा महसूस किया। मुझे लगा मानों मैं उस भीड़ में अकेला होऊँ और दगाबाजी मेरे साथ हुई थी। राज्य या नागरिक या पूँजीपति या संस्था... जैसे पात्र नहीं थे इस धोखे में शामिल... बल्कि अपनों ने साथ न दिया था वक्त पर। जो बातें मेरे रोंगटों को उद्वेलित किए दे रही थीं, वह अपनी समाप्ति पर सबको सकते की खामोशी तक ले जाने की बजाय सीटियों और अभिभावदन की इस फूहड़ लीला तक लिसाड़ ले

जाएँगी... यह विचार घृणा की एक लहर जगा रहा था। मैं निकल आया चुपचाप... शोर से बाहर।

किस्मत से ठीक उसी वक्त डाइट कोक का एक खाली डिब्बा मेरे कदमों के आगे आ गया। मैंने पैर के अगले हिस्से से उसे आगे की तरफ उछाल दिया। वह थोड़ा आगे छिटक कर गिरा। फिर मैंने उस तक पहुँचकर वही सब दुहरा दिया। भटकन का एक लंबा सफर मैं उसके सहारे तय करता आया। टीन का वह डिब्बा भी पूरी तरह फुरसत में था। वह अपनी आखिरी बूँद तक उपयोग में लाया जा चुका था और इस नए किस्म के रोल का आनंद उठा रहा था संभवतः। जाने क्या आया मन में कि मैंने उसे उठा लिया अचानक। वह जूठा किया जा चुका था पहले से... इसलिए शायद मेरे उठा लेने की बात पर वह शर्मिंदा सा दिखा अपने ऊपर। पर मुझे उस पल वह बेहद सगा लगा। अपने तमाम मित्रों... हितैषियों से ज्यादा अपना!

मैं दूर टेनिस कोर्ट तक निकल आया था। वहीं बैठ कर मैंने उस डिब्बे को अपनी हथेली पर रखा। मेरी खुली हथेली पर अपने पिचके स्वरूप के साथ खड़ा वह कँपकँपा रहा था मद्धम-मद्धम। यह शर्मिंदगी थी, घबड़ाहट या कि आत्मीयता की गरमाहट पाकर उत्पन्न पुलक...। या शायद इन सबसे जुदा कोई चीज! उसने भी संभवतः नोटिस कर लिया था उस साम्य को, जो प्रकट था... उसके और मेरे बीच। हम हमशक्ल थे! या शायद परछाईं ही एक दूसरे के। निचुड़े... एकाकी और लक्ष्यहीन। ठीक इसी समय ढलते हुए सूरज का एक कोण डिब्बे के बाहरी आवरण से टकराया और पलटकर जब वह मुझ तक आया तो मेरी आँखें चुंधिया गईं। चुंधियाने की वजह परावर्तित किरणों की चमक नहीं थी बल्कि वह अंतर था जिसे मेरी आँखों ने ठीक उसी वक्त देख लिया था... - हम दोनों के बीच का भेद। डिब्बे और मेरे बीच का एक महीन अंतर! और इसी अलगाव के बिंदु पर मुझे वह जवाब मिल गया जिस तक पहुँचने के प्रयास में श्लेषा उस अश्लील परिणति तक पहुँच गई थी।

शुरुआत तो उस लड़की ने भी ईमानदार की थी और रास्ता भी उसी खुमारी में तय किया था उसने, पर आखिर में अपनी इसी ईमानदारी की परदेदारी करने के लिए उसने खिलंदड़पने और अभिनय का सहारा ले लिया और सही अनुपात में भावनाओं का चयन न कर पाने के कारण उसका वक्तव्य एक फूहड़ प्रस्तुति में परिणत हो गया। इस पर उस लड़की से नाराज हो जाना ज्यादती थी, जो मैं पहले ही कर चुका था। तरस खाना अपमान होता उसकी भावनाओं का, जो कि मैं कर नहीं सकता था

क्योंकि वह मुझे प्रिय थी। फिर जो रास्ता बचता था वह ये कि मैं उसके भीतर यह ढब जगा पाता कि वह ईमानदार दिखना कुबूल कर सके।

मैं डिब्बे को हथेली पर लिए-लिए दौड़ गया अड्डे तक। वहाँ अभी ठिठोली का दौर चल ही रहा था। मैंने जगह बनाई गोले के बीचोंबीच पहुँचने की और बगैर किसी भूमिका के शुरू हो गया - 'दोस्तों! हम दोनों इस बात पर एकमत हैं कि हम एक दूसरे को सबसे अच्छी तरह परिभाषित कर सकते हैं' - मैंने डिब्बे की तरफ इशारा किया। वह उस वक्त मेरी तलहथी पर एक असमंजस की स्थिति में खड़ा था। मैंने उस परिचय द्वारा जो जिम्मेदारी उस पर सौंपी थी उस पर खड़ा उतरने के लिए अपने आप को किस तरह प्रस्तुत करना चाहिए... यह सोच उसे असहज बना रही थी। ऐसे में सबका उसकी ओर ताकना उसे और भी हदसा सकता था। इसलिए मैंने बोलना जारी रखा ताकि लोगों का ध्यान मुझ पर आ जाए और वह मोहलत जुटा सके अपने स्थिर हो जाने की। मैंने कहा - 'यह डिब्बा और मैं - हम दोनों इस बात पर एकमत हैं कि जब भी हम दोनों को एक दूसरे में सब कुछ समान लगने लगेगा हम कोई ऐसी असमान्यता तलाश लेंगे अपने बीच कि हमारे संबंध में एक दूसरे को और समझ पाने की जिज्ञासा बची रहेगी।'

'पियेला क्या' - मंजरी ने मुझे झिड़का।

'ऊँहूँ। ध्यान से देखो' - मैंने डिब्बे को बगल में रख दिया अपने कदमों के और जारी रहा - 'जिस स्टार्टिंग प्वांइट की बात श्लेषा ने की, वहाँ खड़े होने पर मैं इस डिब्बे की तरह ही दिखूँगा। ठोकर खाने के लिए तैयार। पर फर्क यह होगा कि इस बॉटल को कभी इस्तेमाल में लाया गया पर मैं जब उपयोगिता हासिल करने के क्रम में था, तभी खराब शिक्षा व्यवस्था, कमजोर शिक्षक, साधनहीन लैबरेट्री और रटाई हुई पढ़ाई ने मेरे नियोजित हो पाने की क्षमता को ही छीन लिया। मैं उपयोगी ही नहीं रहा रोजगार की दौड़ के लिए। बेरोजगारी से बड़ी समस्या - अनियोजितता। यानी स्टार्टिंग प्वांइंट से आगे मैं दौड़ूँगा नहीं बल्कि लुढ़कूँगा... जब भी मुझे ठोकर मारी जाएगी तब।' अब मैं पूरी तरह सिर्फ और सिर्फ श्लेषा से मुखातिब था - 'और जब नागरिक बनाम राज्य का मोनोलॉग पूरा करने के बाद प्रशंसा ग्रहण करने वाली भूमिका को निभाने की बारी आए... तो इसे (मैंने डिब्बे को उठाकर उसकी पथराई हथेली पर रखा) देख लेना और अपने आप में और इसमें कोई अंतर तलाशने की कोशिश करना... तुम्हारा अभिनय अपने आप सँवर जाएगा।'

श्लेषा थरथरा रही थी... क्रोध से, दुख से, घृणा से... कौन जाने! पर उसकी काँपती हथेली पर रखा डिब्बा अब बिल्कुल संयत था। मैं मुड़ गया... सबको अचरज में छोड़ कर चले जाने के लिए। मैं जानता था मुदित मेरे गज भर पीछे ही है। दरवाजे की कुंडी खोलकर चप्पल बाहर उतारते हुए मैंने पीछे की तरफ देखा तो पाया कि मैं बिल्कुल अकेला था और मेरे फिसल जाने की स्थिति में... सँभाल लेने लायक दूरी पर... किसी के साथ होने की बात... बस भ्रम थी।

कमरे के भीतर का साम्राज्य मेरा अपना स्पेस था। यही वह जगह थी जिसे मैं जिंदगी भर के लिए अपना लेना चाहता था। सच कहता हूँ मुझे किसी घर, फ्लैट, बंगले की आस न थी अपने लिए। बस यही दस-बाई-तेरह का कमरा मुझे मिल जाता साबूत, जस का तस, तो आगे किसी आशियाने की चाह न जागती कभी। मैं कोने में दीवार से लगकर बैठ गया। ऐसी सावधानी से कि मेरी पीठ की रगड़ से रंग धूमिल न हो जाएँ। जहाँ मैं बैठा था उसके पार्श्व की दीवार पर धातु के उपकरणों से एक्रिलिक की महीन कलाकारी की गई थी। यह प्रविधि दीवार के बस इसी हिस्से में अपनाई गई थी। वह भी बहुत छोटे से अंश में। करनी जैसे किसी औजार से बनाई गई हो सकती - ऐसा मेरा और मुदित का अनुमान था। एब्सट्रेक्ट नुमा। देख कर लगता था कि दीवार पर इस तरह की कलाकारी को बहुत मुश्किल से उकेरा जा पाया गया होगा। मैं उसे गौर से देखता गया क्योंकि वह चटक थी, भव्य थी, अबूझ थी... यहाँ से देखते हुए मुझे लगा कि जिसे अभी तक हम कोई जटिल मशीनी यंत्र समझते थे, जिससे लौ नुमा चीज निकल रही थी... वह तो दर्द से भिंची हुई कोई मादा हथेली थी, जिसके रूखे बाल उड़ रहे थे हथेली के समानांतर।

मुझे यह संस्करण रोमांचक लगा और मैं उसके पास खिसक आया। हमारे पुराने पाठ के अनुसार यह तेज किरणें बिखेरता कोई यंत्र था और इस पल यह रूखे बालों वाली स्त्री के दर्द से भिंचे हाथ थे जिसकी नसें ऐसे तन आई थीं मानों यह उसकी पीड़ा का चरम पल था और इसके बाद सब कुछ शांत पड़ जाना निर्धारित था। तकलीफ को उसके चरम पल पर कैद कर लिया गया था। यह नया पाठ मुझे रोमांचित कर रहा था। पर आगे क्या था! मशीन से निकलती किरणों के आगे का पहाड़नुमा उभार और फिर ढलान के बाद की ऊँची इमारत और उसके आगे शांत लाल मैदान। अबतक यह तसवीर पूर्ण थी... तकनीकि के इस्तेमाल से प्रकृति का दोहन कर बनाई जाती इमारतों और हरियाली की जगह लाल बंजर मिट्टी में पसरी वीरानी की काल्पनिक परिणति में...। पर यहाँ स्त्री के रूखे बाल और हथेली से आगे क्या...? क्या था पर्याय

पहाड़ इमारत और लाल मैदान का... बहुत माथापच्ची करने पर भी कुछ न मिला तो मुझे लगा कि पहला पाठ ही मुकम्मल था और मैं कपड़े बदलने लग गया अपने।

अभी यह काम आधा ही निबटा था कि मेरी चेतना जाग उठी। मैं कपड़े फेंक-फाँक कर दीवार तक गया। अबकी देखने पर पहाड़ सिरे से गायब था वहाँ और लेटी हुई स्त्री के हाथ के आगे उसके प्रसव से उभरे पेट का संसार था... उस दर्द के चरम पल के बाद की दास्तान उधर थी और मैंने फटी आँखों के साथ यह देखा कि खून की धार के बीच वह स्त्री जिसे जन्म दे रही थी वह... एक इमारत थी - एक ठस इमारत...। तकनीकि! मैं वहीं बैठ गया। तकनीकि इनसान को जन्म दे, इससे भी भयानक कल्पना थी सामने... जिसमें इनसान जन्म दे रहा था तकनीकि को... मस्तिष्क से नहीं बल्कि उस जगह से, जो सिर्फ धड़कने वाली आत्माओं को जन्म देती है। यह इनसान की चुनौती थी सीधे-सीधे उस कुदरत को जिसे गर्व था कि उसने इनसान का विकल्प नहीं बनाया। पर यहाँ उसी इनसान ने अपना विकल्प बना लिया था - तकनीकि को!

तभी कमरे का दरवाजा खुला वेग से और मुदित दाखिल हुआ बेसाख्ता। उसने मुझे आधे कपड़े आधे आँसुओं में देखा। उसका मुँह खुला अचरज से पर अगले ही पल वह जल्दी-जल्दी बोलने लग गया - 'तुहिन को जिस कंपनी ने सिलेक्ट किया था, वह थी यूलेक्स्टन! एक ब्लैक लिस्टेड कंपनी। हर साल कई-कई ब्लैक लिस्टेड कंपनी सिलेक्ट करती है हमारे यहाँ से स्टुडेंट्स को और इस फरेब में किसी को कुछ नहीं होता। इस दफा भी यही सब हुआ है। मैं तुम्हारे पीछे ही आ रहा था पर समीर दा मिल गए और उन्होंने हमारी माँगी जानकारी मुझे पकड़ाई। तू निकल चुका था तब तक आगे तो मैं वापस अड्डे तक गया और वहीं मंजरी के लैपटॉप पर हमने सर्च किया। पिछले पाँच साल से अभी तक सैंतालिस प्रतिशत चयन इन ब्लैक लिस्टेड कंपनियों ने किया। औसत पैकेज हमारे कॉलेज का साढ़े तीन लाख का है पर कौन पास आउट कितना कमा रहा है और कितना छिपता फिर रहा है... यह सब फेसबुक पर खुला पड़ा है।'

मैंने देखा मेरा कमरा भर चुका था। पूरा अड्डा उठकर चला आया था भीतर।

'हमें कुछ करना होगा यह तो क्राइम है।'

'पर क्या करेंगे हम?'

'कुछ भी... सोचना तो होगा कुछ।'

'सोच सकते बेशक... पर करेंगे क्या?'

'धरना प्रर्दशन स्ट्राइक, आवाज उठाएँगे... अनशन...'

'सबको फाइनल में फेल कर दिया जाएगा- ज्यादा से ज्यादा यही मिलेगा रिजल्ट।'

'हू केयर्स! ऐसे भी कौन से कयामत ढाने वाले थे हम! ग्रेजुएट्स की संख्या बढ़ाने से ज्यादा योगदान क्या देंगे हम समाज में?'

'समाज वमाज को मारो। घर में क्या योगदान देंगे... क्राइसिस ये है।'

'पर सिस्टम को हम ही बदल सकते। किसी को तो आगे आना होगा। ऐसे भेड़ चाल चले जाने से क्या हासिल?'

'किसका बहिष्कार करेंगे, क्लासेज का? नौकरी की ऑफर का? पर उससे होगा क्या! जो थोड़ा बहुत फायदा हो सकता है वह भी सपना बन जाएगा इन सबसे।'

'हम पूरे सिस्टम को नहीं बदल सकते पर कम-से-कम अपने कॉलेज में तो विरोध कर ही सकते हैं।'

'पर हासिल क्या होगा उससे भी?'

कौन सी आवाज किसकी थी इसका हिसाब रखना मुश्किल था पर आवाज हर कहीं से उठ रही थी... इतना था!

वहाँ लड़कियों की उपस्थिति को भाँपकर मैं दूसरे कोने तक गया और टी-शर्ट ढंग से पहन कर वापस आया मैं।

मंजरी कह रही थी - 'तुम लोग यह मत समझना कि मेरा कैंपस नहीं हुआ इसलिए भड़का रही तुम सबको। पर हमें एक होकर इस सिलेक्शन का विरोध कर देना चाहिए और सिलेक्शन लेटर लौटा देने चाहिए।'

'पर ये कैसे हो सकता है! घरवालों ने पढ़ने के लिए जहाँ-तहाँ से जो उधार लिया है उसका क्या! जो बहुत से लोगों को प्रभावित करे वैसे मामले में अकेले अपने दम पर फैसला कैसे किया जा सकता है भला!'

'ये थोड़े ही न कहा जा रहा कि आगे रोजगार खोजना ही नहीं कोई... बस इस ढोंग फरेब का बहिष्कार कर देना है। बात जब बाहर जाएगी तभी अगले सेशन में कैंपस सिलेक्शन के रिकार्ड के नाम पर ठगी नहीं हो पाएगी एडमिशन में।'

'तुम्हें क्या लगता है लोग अभी जानते नहीं बाहर ये सब! सब जानते हैं फिर भी एडमिशन में मारा-मारी है।'

'मारा-मारी नहीं है... जो भी आ रहा उसे निराश नहीं कर रहे कॉलेज, प्रवेश देने में फिर भी इतने कालेज हैं और सीट इतनी कि बच्चे के साथ पेरेन्ट्स की भर्ती फ्री का विज्ञापन भी आ जाए तो कोई अजूबा नही।'

'फ्री...! ये फंडा यहाँ नहीं आने वाला। कॉलेज की फीस तो मुटाती जा रही है और अब, जब सरकार की तरफ से यह बात आ रही कि साढ़े सात लाख तक के कर्ज को चुकाने में केवल सरकार की गारंटी होगी, तब कोर्स की फीस अभी के औसतन चार लाख से बढ़कर सीधे साढ़े सात लाख हो जाएगी। फीस दुगुनी बढ़ जाएगी फिर भी एडमिशन बदस्तूर जारी रहेंगे।'

'हाँ ये धंधा ठीक है। सरकार की गारंटी वाला। फीस बढ़ जाएगी। कॉलेज के मालिक मालामाल। सरकारी बैंकों में जो जनता के पैसे जमा हैं वह उन मालिकों की जेब तक पहुँच जाएगा। और जब बैंक, हमारे लोन न चुका पाने की स्थिति में सरकार से पैसों की माँग करेंगे, तब सौ नुख्स निकालकर उस क्लेम को ही अयोग्य करार दे दिया जाएगा।'

'लघु मध्यम उद्योग में सीजीटीएमएसई स्कीम में सरकारी गारंटी के तहत ऋण का प्रतिशत देख लो। जो लोन खराब हुए उनमें से मात्र सोलह प्रतिशत खातों में सरकारी गारंटी का क्लेम किया गया बैंकों द्वारा। क्लेम किए गए खातों में से मात्र तैंतालिस प्रतिशत में क्लेम में राशि वापसी हुई। किसानों की कर्ज माफी वाली स्कीम देख लो। सीएजी की रिपोर्ट में इस लाभ को पाने वाले सैंपलिंग के कुल अकाउंट्स में से बाईस प्रतिशत खातों में गड़बड़ी पाई गई। साढ़े आठ प्रतिशत ऐसे लाभार्थी थे जिन्होंने गैर-कृषि योजनाओं के लिए लोन लिया था और जो उस स्कीम की रिक्वायरमेंट पूरी करते ही नहीं थे पर उन्हें लाभ मिल गया...। जो आवेदन अस्वीकृत किए गए उनमें से तेरह प्रतिशत ऐसे थे जो इस स्कीम के दायरे में आते थे। यानी कि इतनों का हक मारा गया। जबकि सैंपलिंग में मात्र बीस प्रतिशत खातों का चयन हुआ था। यही हाल

हमारा होगा। सरकारी गारंटी का क्लेम ठुकरा दिया जाएगा और डिफॉल्टर का ठप्पा लिए हम घूमेंगे ताउम्र।'

'तेरह चौदह पंद्रह प्रतिशत की ब्याज दर। वह भी कंपाउंड इंट्रेस्ट की रफ्तार से।'

'सिविल की रिपोर्ट में कर्ज अदायगी की स्टेटस में धब्बेदार रिर्मार्क्स अगल से..., जिसे देखते ही सारे बैंक पल्ला झाड़ लेंगे हमसे और भविष्य में मोटरसाइकिल के लिए भी लोन लेने लायक न रह जाएँगे हम।'

'ये नहीं होगा कि सरकार गारंटी की राशि साढ़े सात लाख कर आखिरकार हमें ही कर्जदार बनाने की बजाय फीस की रकम ही कम करवाए।'

'पर इतना हाय तौबा करना ठीक है क्या! आजकल तो नर्सरी के एडमिशन में भी चार-पाँच लाख घूस लगता है। फिर हमारी पढ़ाई का खर्च उतना भी नहीं।'

'सबकी अपनी अपनी परिभाषाएँ हैं। किसी के मुताबिक छह आदमी के परिवार की दाल-रोटी का जुगाड़ छह सौ रुपये में आराम से किया जा सकता है तो किसी के बच्चे के लिए साठ हजार की पॉकेटमनी भी कम।'

'पैसा जिनके पास है वे चाहे जितना फूँकें पर हमारे लिए तो यही खर्च बहुत है।'

'पर अभी फाइनल सिमेस्टर के वक्त यह सब पचड़ा करने की क्या जरूरत है। परीक्षा खत्म हो जाए फिर देखते हैं।'

'अभी नहीं तो कभी नहीं। एक बार फाइनल परीक्षा खत्म हुई फिर टिकेगा कौन यहाँ सोच-विचार करने।'

'मुझे लगता है कुछ भी किया नहीं जा सकता है। हम दस बीस तीस लोग सब कुछ नहीं बदल सकते।'

'फेसबुक पर सर्पोट माँगते हैं।'

'वो तो बिना माँगे मिल जाएगा। तू पोस्ट तो कर के देख। एक सौ इक्यावन अँगूठे ऊपर की तरफ खड़े हो जाएँगे पलक झपकते दक्षिणा में।'

'रेट बड़ी कम लगा रहे हो यार तुम। एक सौ इक्यावन अँगूठों से क्या होगा?'

'हम टॉपिक से भटक रहे हैं।'

'हम टॉपिक से ही नहीं मंजिल से ही भटक गए हैं। डिरेल्ड।'

'चलो यार दिल का बोझ हल्का करने के लिए ये वाद-विवाद बढ़िया अब खत्म किया जाए।'

मुझे बचपन की होली याद आई... जब हम प्लास्टिक की पारदर्शी पिचकारी में दम भर के रंग भरा करते थे पहली खेप में। जब हम निशाना साध कर पिचकारी दबाते तो थोड़ा सा रंग कुछ दूर आगे तक उछल कर गिर जाता और बाकी का सब पिचकारी के मुँह से वहीं रिस जाता - हमारे ही हाथ और कपड़े को बोथा करता। लक्ष्य को निशाना बनाने की बात छूट जाती दूर। कितनी कमजोर थी हमारी तैयारी! बल्कि कैसी आधारहीन थी हमारी खयाली लड़ाई की जमीन! बल्कि कितना स्पष्ट था हमारे संघर्ष का स्वाँग!

और यह कैसी लड़ाई थी? व्यक्तिगत या सामूहिक? अगर कि इसे सामूहिक लड़ाई बन जाने की छूट दी जाती तो इसका पक्ष-विपक्ष आरोप-प्रत्यारोप बहस-झगड़े की भेंट चढ़ जाना तय था। और अगर इसे व्यक्तिगत लड़ाई समझा जाता तो इसके परिणाम से व्यवस्था अप्रभावित रह जाती सिरे से। इसलिए अगर हम वाकई कोई परिवर्तन चाहते थे तो हमें व्यक्तिगत लड़ाई लड़ते हुए भी सामूहिक स्वरूप को नहीं छोड़ना था। यानी खलबली हर तरफ रहती पर लड़ने का ढंग व्यक्तिगत होता। अपनी-अपनी आत्मा, सोच और दृष्टि को साध कर बनाया गया छोटा-छोटा व्यक्तिगत मोर्चा... जिसके निशाने पर भ्रष्ट हो चुकी व्यवस्था होती। हमें मद्धम आँच पर अपने को पकाना था पर हम हड़बड़ी में थे। अभी हमारी तैयारी उस अवस्था में थी जहाँ अपने अंतर के सुरों को साधे बगैर हम सामूहिक शोर में योगदान दे रहे थे।

लानत-मलामत, तर्क-कुतर्क के बाद जब कमरा खाली हो गया तो मैंने देखा एक कोने में डाइट कोक का खाली डिब्बा रखा था। मेरी और मुदित की नजरें मिलीं... बल्कि कहें हमने एक दूसरे से नजरें चुराईं। हम निढाल पसरे थे बिस्तर पर।

मुदित ने एकदम धीमी आवाज में कहा - 'जब मैं कमरे में आया था... तो तुम्हारी दशा वैसी क्यों थी? तुम्हारे पास क्या चीज थी जिसने तुम्हें छू लिया था' - वह मेरी तरफ मुड़ा - 'तुम दीवार के पास क्या कर रहे थे उस तरह?'

मेरे पास उसे बताने के लिए बहुत कुछ था। पर घटनाएँ इतनी बेतरतीबी से घटी थीं कि मैं वह छूटा सिरा जोड़ नहीं पा रहा था। जो बात एक आवेशनुमा फ्लो में बयान की जा सकती थी... उसे सपाट लहजे में प्रकट कर देने का हौसला नहीं जुटा पा रहा था।

उसने मुझे हिलाया **- 'क्या?'**

मैं उठकर बैठ गया। हम **(**मेरे पीछे**-**पीछे वह**)** दीवार के पास गए। उसी हिस्से के पास। मैंने कहा - 'हम अक्सर सोचा करते थे कि इस कमरे की पहली चित्रकला कौन सी होगी... कौन सा होगा वह बिंदु जिससे आरंभ होकर इस दीवार की परिकल्पना संभव हुई होगी। यह वही था। पहला भित्तिचित्र।'

वह निःशब्द था... मैं डिकोड करता जा रहा था और वह देखता जा रहा था दीवार की उन तसवीरों के पार या शायद मेरे पार... क्योंकि मैंने देखा उसकी पुतलियाँ ठीक-ठीक न तो मुझे ताक रही थीं न तसवीरों को। वह मेरे कहे के पार देखता रहा... इस पूरे वक्त के दरम्यान और कहा शेष हो चुकने पर वह बुदबुदाया - 'जब इंजीनियरिंग स्टुडेंट एडविन डिसूजा ने इनसान और तकनीकि के रिश्ते के इस ऐंगल को बरसों पहले देख लिया था... तो कौन कहता है कि इन कॉलेजों में हमारी रचनात्मकता शेष हो रही है और अब हम अनियोजितता के शिकार बन रहे...'

मैंने चौंक कर उसे देखा। उसकी आँखें चमक रही थीं। वह मुझे गले से लगा लेने के कगार पर था कि अचानक वह पूछ बैठा - 'क्या यह तसवीर हमेशा से दीवार पर थी...'

मैंने सिर झुका लिया क्योंकि यह एक ऐसी बात थी जिसके बारे में मैं आश्वस्त नहीं था।

जवाब उसने ही दिया **- 'हाँ यह हमेशा से थी... मुझे पक्का याद है।'**

उसका यह जवाब पर्याप्त नहीं था मुझे संशय से मुक्त करने के लिए। उसने फिर से एक प्रयास किया - 'याद करो हम इसके चटक रंग से कब से प्रभावित थे और यह यंत्र... मतलब जिसे हम मशीनी यंत्र समझते थे...'

'अशेष...' - उसने गियर बदल लिया और मुझे अपरिचित सी नजरों से देखने लग-ऐसे, कि मुझे असहज लगने लगी उसकी वह निगाह।

'क्या है?'

'हो सकता है बनानेवाले ने बनाया हो वही सब... जो हम समझा करते आए थे आज तक... और यह नई दृष्टि जिसकी..., सारा क्रेडिट उसी का।'

क्या सोच कर की होगी एडविन डिसूजा ने वह कल्पना! या क्या सोचकर मेरे मन में यह विचार आया होगा... सवाल को किसी भी तरह घुमा दें तो महत्व सोच का था कर्ता का नहीं। क्या वह सोच आदिम युग से अनदेखे भविष्य तक की यात्रा का परिणाम थी। शुरुआती दिनों में औजार छोटे बड़े दोनों होते थे और कभी आदमी का कद कभी उसका श्रम उन पर भारी पड़ जाता था और वे औजार पूरी तरह इनसानी नियंत्रण में रहते थे। उससे संपन्न हो पाने वाले काम और परिणाम पर पूरी तरह इनसानी दखल हुआ करती थी पर जैसे-जैसे औजार और श्रम का अनुपात उलटता गया आदमी का कद सिमटता गया। और परिणाम पर उसका आंशिक नियंत्रण रह गया। मेरे सामने खुरपी चलाते हाथों का अक्स उभरा, जिसमें खुरपी पकड़ने वाले हाथों की नसें श्रम की अधिकता और मालिकाना गर्व से फूली रहतीं। उसके बरअक्स एक नाजुक हाथ की तसवीर तैरी सामने जिसके बटन भर दबा देने पर एक पेंचीदा यंत्र लक्ष्य की ओर निकल पड़ेगा। उस कर्मठ कुरूप हाथ को मालूम था कि कब खुरपी का इस्तेमाल करना बंद कर देना था। पर यह सुंदर हाथ नहीं जानता था कि लक्ष्य से भटक जाने पर एक बार चल चुके यंत्र को वापस काबू में कैसे करना था! इसी सार्थकहीनता को पाटने के लिए और धूमिल पड़ते जाते अस्तित्व को पुनर्स्थापित करने के लिए इनसान ने दिमाग की जगह एक अन्य उर्वर प्रदेश - अपनी कोख का चयन किया होगा। तब मशीनों का जन्म प्रयोगशालाओं या कारखानों में इनसानी दिमाग के इस्तेमाल से नहीं बल्कि इनसानी कोख से हुआ करेगा। ताकि तकनीकि पर इनसानी नियंत्रण को और तकनीकि की उद्गम प्रक्रिया में इनसानी वजूद को अक्षुण्ण रखा जा सके! भविष्य की इस अंधी सोच की कल्पना से मेरे होठों के ऊपर पसीने चुहचुहा आए।

मैं झटके से उठा और दूर कोने में रखे उस खाली डिब्बे को लेकर बाहर निकल गया... वॉश बेसिन तक। उसे अंदर-बाहर धो कर पूरी तरह अपना बना लेने का समय आ गया था।

यह श्लेषा के जन्म वाला दिन था। उस शाम के बाद से हम में कभी सीधा संवाद नहीं हुआ था। यहाँ तक कि सीधी देखा देखी भी नहीं। मुझे उसके लिए कोई उपहार जुटाना था जो कि उसकी खुशियाँ खोज लाए... जहाँ से भी। ओस से भरी रातों के बाद वाली सुबह थी और मैं खुले मैदान में निकल गया। घास से भरा हुआ मैदान था और मौसम ऐसा, जिसमें मेरी खोज की चीज के मिलने के आसार कम। इस उपहार का विचार सुबह आँख खुलते ही दिमाग में आया था। दिन की पहली चीज थी जो मैंने सोची थी या कि वह बिंदु जिससे दिन का आरंभ हुआ... दरअसल इस जवाब को खोजते हुए रात भर किताब लेकर ऊँघता-जागता, झपकता-चौंकता... रहा था मैं। तो बहुत संभव है कि किस्तों के सपने में ही सूझ गया हो जवाब, जिसकी आधिकारिक पुष्टि हुई हो नींद खुलने पर। जो भी हो। अब चूँकि बरसात का मौसम काफी पीछे छूट चुका था चक्र में, इसलिए इन दिनों मोर की पाखी की तलाश एक महत्वाकांक्षी विचार था जरूर, पर हिम्मत हार देने जैसा भी असंभव मामला न बनता था। मेरे लिए उसका महत्व छिपकली भगाने वाले साधन से अधिक न था (हालाँकि यह उपयोग वाली बात भी अफवाह थी) पर वह खिल जाती शर्तिया... इस तोहफे से। ये जरूर हुआ कि मैंने चप्पल उतार दिया और नंगे पैर ठंढ़ी घास पर सिहर सिहर का चलना बड़ा रोमांचक साबित हुआ। मुझे लगा कि इस पूरी कवायद में मैं उसकी खुशी से ज्यादा अपनी पुलक जुगाड़ ले रहा था।

इन खुले मैदानों में बरसात के दिनों में मोर अक्सर विचरते मिल जाते... अपने भारी पंख छितराए। पीछे उनके, घास में उलझे रह गए पंख मिल जाते यदा-कदा। पर इस मौसम में उन्हें खोज पाना किस्मत थी... जो कि झाड़ियों में छिपी, थोड़ी सूखी और झड़ी सी... मेरा इंतजार कर रही थी। ताबड़तोड़ कई चक्कर लगा लेने के बाद मैंने उसे ढूँढ़ लिया था और अब मैं उँगलियों से उसे साफ कर उसके रोएँ को सहला कर ताजी हवा का उससे परिचय करा रहा था।

मैं सीधा उसके हॉस्टल पहुँचा। मैंने उसके नाम की परची लगाई पर काफी देर तक वह आई नहीं। दुबारे से बुलवाने पर उसके न होने की खबर आई। मुझे ऐसा लगा कि उसने खिड़की से तफ्तीश कर ली थी शायद और मुझे आया देखकर उसने बाहर आने से इनकार कर दिया था। मेरी गरदन उसकी खिड़की की दिशा में उठ गई पर खिड़की के पल्ले बंद थे दोनों।

सुबह का समय था और इस वक्त अक्सर कोई विजिटर आता नहीं। इसलिए वहाँ भीड़भाड़ कम थी उस समय। मैं वहीं एक पेड़ के नीचे बने चबूतरे पर बैठ गया। दो

लड़कियाँ दूर घास पर बैठीं... रट कर कुछ याद किए चली जा रही थीं। उनसे जरा सी दूरी पर गाय चर रही थी। यह रोजमर्रे का एक सामान्य सा दृश्य था और मुझे जरा भी भान न था कि यह सब अगले कुछ पलों में एक रोमांचक विजुअल में बदल जाने वाला है। मेरे देखते-देखते लड़कियों को गाय की उपस्थिति का भान हुआ और वे पीछे मुड़ीं तो यह उद्घाटित हुआ कि उनके नोट्स गाय माता के मुख मंडल में समाविष्ट हो चुके थे। एक लड़की बुरी तरह चिल्लाने लगी और मुजरिम को मारने पीटने पर उतारू हो गई। दूसरी ने उसे मुश्किल से वापस खींच लिया वक्त रहते। गाय माता उनकी पूरी मेहनत को पलीता लगाकर मुलायम घास की तलाश में आगे बढ़ चुकी थीं। वह लड़की आँसुओं से तर-बतर अभी भी चिल्लाए जा रही थी।

'कहलवा दिया था कि नहीं हूँ तो यहाँ क्यों बैठे हो**?**'

अभी सामने जो हुआ उन सबके बीच में ही श्लेषा के अकस्मात प्रकट हो जाने से मैं अपने रुकने का... बल्कि आने का उद्देश्य भूल गया बिल्कुल। जवाब में मेरे कोई प्रतिक्रिया न देने से वह निराश हो गई।

'यहाँ बैठ कर मेरा मजाक बनाने का मसाला दे दिया तुमने लड़कियों को' **-** वह भुनभुनाती गई।

'और इधर उधर क्या देख रहे थे**?**'

'तुम्हारी साल भर की मेहनत से बनाई गई नोट्स अगर गाय चर जाए तो**...!**'

'क्या बकवास है**!**'

'यह भी तो चारा घोटाला ही हुआ एक प्रकार का' - मैंने ठहाका लगाया, हालाँकि आँसुओं से बोथाई वह लड़की दूर खड़ी थी अब तलक।

'इतनी जोर से क्यों हँस रहे हो मूर्ख**...** लड़कियों के हॉस्टल के बाहर।'

उसका वश चलता तो वह अपने दुपट्टे में अभी वाले ठहाके को छिपा... मेरे उजड्डपन को समेट लेती... दुनिया की नजरों से।'

श्लेषा की नजरें उस रोती हुई लड़की पर पड़ी तो वह मुझे छोड़ उस तरफ लपक गई। वहाँ जाकर सारा माजरा बूझ कर और दिलासा देकर उन्हें हॉस्टल के अंदर भेज देने के बाद वह मुझ तक आई।

'क्या समझा दिया तुमने उसे कि वह एकबारगी चुप हो गई?'

'तुम जूनियर लड़कियों पर आई मुसीबत को देखकर हँस रहे थे!'

'जिस गति से उसने आँसू पोंछे और भीतर दुबक गई मुझे शक है कि तुमने यह मंत्र फूँका कि विश्व हिंदू परिषद के कार्यकर्ता सब देख रह हैं...'

उसने आँखें तरेरी।

'उस लड़की ने थप्पड़ उठाया था गौमाता पर... मैंने देखा था।'

'शटअप! फालतू मसखरी करने पहुँच गए सुबह-सुबह।'

'हैप्पी बर्थ डे' - मैंने धीमे से कहा।

उसकी बिगड़ी मुखाकृति सौम्य पड़ गई और वह शरमाई हलके से। मैंने जींस की जेब से तोहफा निकालकर उसके आगे फैला दिया... नजरें मेरी उसके चेहरे पर बदस्तूर टिकी थीं।

मैंने देखा... उसने नीचे देखा मेरी खुली हथेली पर और चिहुँक कर बोली - 'ये क्या है?'

मैंने तेजी से अपनी हथेली की ओर देखा। मेरी खुली हथेली पर बस की टिकट को मोड़कर बनाई गई आकृति थी! तो! उस रोज भी मृगा के साथ पेंटिंग वाली गैलरी घूमने वाली शाम, मैंने यही जींस पहन रखी थी और उस शाम की सहेजी स्मृति मेरी खुली हथेली पर उड़िया रही थी हवा के झोंके में! ओह! मैंने गलत जेब में हाथ डाल दिया था। मैंने मुट्ठी बंद की और उसे वापस खींच पॉकेट में रखा। अगले पल मेरा दाहिना हाथ सही तोहफे को लिए दिए हाजिर था। श्लेषा खुश हुई पर जल्द उसने अपने को संयत कर लिया और मेरे हाथों से मोर पंख ले लिया।

'कहाँ मिला?' - उसने कोमलता से पूछा।

'अभी अभी खोजकर लाया हूँ। थोड़ा सूख गया है...'

मैंने फिर से उस मोरपंख को देखा। उसका ऊपरी सिरा कहीं टूट गया था कहीं झड़ गया था... फिर भी बीच का रंग अपनी शोखी में इठला रहा था।

'मैं दुआ करता हूँ कि अच्छे मौसम के बीत जाने पर भले तुम ऊपर से सूख जाओ टूट जाओ या झड़ जाए तुम्हारी सुंदरता... ईश्वर करे तुम्हारी आत्मा का रंग कभी चटक न खोने पाए...' - मेरे मुँह से बिना किसी पूर्व निर्धारित पीठिका के ये शुभकामनाएँ निकल गईं।

'मैंने तुम्हें उस रोज शर्मिंदा कर दिया न!'

'निराश...'

'मैंने बाद में सोचा तो मुझे लगा कि मैं गलत नहीं थी। मेरे अहसास को सबसे मौलिक तरीके से मेरी ही जुबान में कहा जा सकता है। वह भाषा भले तुम्हें अश्लील लगे भले उपयुक्त न लगे पर मेरे लिए अपने को प्रकट करने का सबसे सहज माध्यम वही। इसलिए अगर तुम निराश थे तो कोई बात नहीं पर तुम्हारा शर्मिंदा होना... गुनाह होता।'

मैंने उसके चेहरे को समझने की कोशिश की। पर मेरे मुँह से लिकला - 'कहाँ रखोगी इसे?'

उसने सीधा मेरी आँखों में देखते हुए कहा - 'बहुत सारी ऐसी जगहें जानती हूँ मैं, जहाँ तक कोई और नहीं पहुँच सकता।'

उसका इशारा किसकी तरफ था! जींस की बाईं जेब के भीतर मेरी उँगलियाँ बस की टिकट से बनाई गई आकृति से टकराईं और मैंने हड़बड़ाकर नजरें झुका लीं।

वह बढ़ने लगी। मैं भी उसके साथ-साथ चलने लगा। बेहद आहिस्ता।

'कभी-कभी चीजें कितनी साफ दिखने लगती हैं और कभी धुंधलका इतना गहरा जाता है कि आँखें खुल तक नहीं पातीं ठीक से। मेरे गाँव में आज तक किसी लड़की ने घर से दूर रहकर पढ़ाई नहीं की। और वहाँ तो सभी यही जानते हैं कि मैं इंजीनियर बन चुकी। बन ही जाऊँगी शायद। वह डिग्री भी हासिल हो जाएगी जिसका सपना तक न देखा था। उसके बाद नौकरी भी मिल जाए या ब्याह दी जाऊँ...। पर एक दिन जब जिंदगी का हिसाब होगा तब क्या होगा मेरा हासिल! जो पाई हुईं चीजें रहेंगी पास में, उनके बदले जितनी चीजों का मोल चुकाया... जब उनका भी हिसाब होगा... तब क्या बचेगा मेरे पास! क्या तब मेरी शिक्षा की डिग्री सारी कमियों की भरपाई करने में सक्षम होगी... तुम्हें क्या लगता है अशेष कि इन सवालों से जूझते हुए मुझे

हमेशा पीड़ित और पराजित ही दिखना चाहिए... अगर मैं उसमें थोड़ी भदेस सी चुहल, थोड़ा अपरिपक्व व्यंग्य या थोड़ा अनगढ़ अभिनय मिला देती हूँ... तो सब कुछ असुंदर हो जाता है... तुम्हारी कसौटी पर? पर क्यों? इसलिए कि तकनीकि शिक्षा पाते-पाते तुमने उसकी कसौटी को ही अपनी परख का तकाजा भी बना लिया है। तकनीकि... जिसका संबंध मस्तिष्क से है, जो नियंत्रित करती है संवेदना की मात्रा... संचालित करती है भावनाओं का इजहार... जोकि अनुपात की हेल-मेल बर्दाश्त नहीं कर पाती... तुम उसी दिमाग के खींचे पैमाने पर सबका परफेक्शन माँपते हो।

उस रोज तुमने पूछा था कि अपने नोटबुक के पन्नों पर वैसी आकृतियाँ बनाना मैंने कहाँ से सीखा! मेरा कोई जवाब तुम्हें संतुष्ट न कर पाता यह बात मैंने तुम्हारी आँखों में देख ली थी... इसीलिए मैंने उत्तर में यह नहीं कहा कि ऐसी तसवीरें बनाने के लिए सीखने पढ़ने की जरूरत नहीं होतीं। ये मूल तसवीरें हैं इनसान की, जिसे बनाने के लिए कलाकार होना जरूरी नहीं। तुम एक खास जवाब सुनना चाहते थे इसलिए मैंने चुप रह जाना चुना। दिमाग से नीचे उतर कर सोचोगे तो तुम जान पाओगे कि कभी-कभी सही अनुपात कितने खोखले हो जाते हैं। और भावनाओं की बेढब फूहड़ चाल भीतर का गुबार निकाल देने का सबसे सहज माध्यम बन जाती है।

'ईमानदार दिखने में क्या हर्ज है**?**'

'हमेशा आँसू ही ईमानदार नहीं होते। कभी-कभी फूहड़ हँसी भी ईमानदार हुआ करती है**...**' **-** उसने तड़पकर कहा।

एक अरसे बाद मैंने फेसबुक अकाउंट चेक किया था। वहाँ बहुत से चटपटे संदेशों और अपडेट्स के साथ बैंक के ओल-झोल संदेश भी थे - जिनमें से दो काम के थे। एक तो रटा-रटाया यह कि सूद नियमित अदा करने से अंत में कोई छूट मिलेगी और दूसरी यह कि पिताजी का आय प्रमाण पत्र अमुक तारीख तक जमा करवा दें तो एक अन्य किस्म की छूट मिलेगी। इस छूट-लूट की पहेली को मैंने कभी सुलझाने का प्रयास नहीं किया था। लिहाजा मैंने दोनों जानकारियाँ ज्यों की त्यों पिताजी तक पहुँचा कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर ली। पिताजी की तरफ से जवाबी सूचना यह आई कि पिछली बार उनके जमा किए गए आय प्रमाण पत्र को खारिज कर दिया गया था और बार-बार चक्कर काटने के बाद भी पिछले वित्तीय वर्ष की छूट से वे/हम वंचित थे।

मुदित की पुश्तैनी प्रशासनिक बुद्धि की मदद से मैंने इस शिकायत का एक ड्राफ्ट तैयार किया और उसे बैंक के ई-मेल पर भेज कर जागरूक ग्राहक की भूमिका निभा दी। बस यही हुआ कि हड़बड़ी में यह मेल मेरी बजाय मुदित की ई-मेल आईडी से प्रेषित हो गया। हमारी संयुक्त गृहस्थी में इतनी जरा सी हेर-फेर आम बात थी।

फेसबुक की अन्य खास बातें ये थीं कि तुहिन का अपडेट तेईस दिन पुराना हो चुका था और वह वहाँ से लापता था। हमने एडविन डिसूजा को फिर से एक बार तलाशने की कोशिश की थी हर तरह की संभावित स्पेलिंग्स के साथ। पर सही चीज हाथ न लगी।

हमारे एक्स्ट्रा क्लासेज शुरू हो चुके थे और भाग दौड़ में इतना थक जाया करने लगा मैं कि रात के वक्त जैसे ही पढ़ने वाला समय आता दिमाग शिथिल पड़ते-पड़ते... झपक जाता पर यह जरूर था कि सोचने के लिए निर्धारित पंद्रह मिनट के स्लॉट में तो मैं दीवार की दूसरी तसवीरों को डिकोड करने का काम तेजी से करता पर।

एक ऑयल पेंट से बनाई गई तसवीर जिसे पहले हम श्यामवर्णी युवती का अक्स समझते थे... उसके पूरे चेहरे में सिर्फ सुर्ख लाल होंठ स्पष्टतया उभरे थे और वे होंठ ही उस स्त्री के पूरे अस्तित्व को प्रतिरूपित करते थे। वह अपने काले चेहरे के बावजूद हमें खासा आकर्षित करती थी, पर अब लाल होंठ के इर्द-गिर्द का पूरा काला अक्स ऊपर की ओर उठता हुआ सा दिखने लगा... गौर से देखने पर। और जिस घड़ी मैंने उसके होंठ को औद्योगिक कंपनी से उठते काले धुएँ के बीच श्रमिकों के खून की लाल रेखाओं में डिकोड किया... हम दोनों के रोएँ खड़े हो गए।

एक दूसरे चित्र को रंगीन चौक से बनाया गया था। उसमें एक हिरण था जिसने अपने अगले पैर मजबूती से जमीन में रोप दिए थे पर उसका सारा शरीर पीछे की तरफ खिंचा हुआ था और उसके सींग में किसी लोमड़ी की पूँछ लिपटी थी जो कि एक डाल को पकड़ दूसरी दिशा में हिरण को खींचे जा रही थी। यह पंचतंत्र का एक दृश्य अब हमारे आगे मन और मस्तिष्क की रस्साकस्सी को उकेर रहा था। भूरी लोमड़ी, जिसे पेड़ पर चढ़े होकर डाल पकड़े झूलने का विरल पल सजीव करते चित्रित किया गया था... वह शातिर दिमाग ही था जो अपनी पूँछ में मन के सींग को जकड़े उसकी चाल पर लगाम लगाए बैठा था। हिरण की टाँगें जिस तरह जमीन में गँथीं जा रही थीं... उसे बारीकी से चित्रित कर पाना हैरान कर रहा था।

एक और कोने में रंगों की करामात बिखेरी हुई थी और वहाँ एक दूसरे पर चढ़ती कई रंगों की दीवार थी जिसके बीच के एक सूराख में एक स्त्री के चेहरे की रेखाएँ उकेरी हुई थीं। दीवार के रंग एक दूसरे पर चढ़े से प्रतीत जरूर होते थे पर हर रंग को उसके पूरे उरूज तक खिलकर उभरने का अवसर दिया गया था। यह दीवार के परदे के बीच से झाँकते आकर्षक नक्श-नैन का झरोखा हुआ करती थी कभी हमारे लिए पर अब यह पूरी दीवार ही स्त्री में तब्दील थी। एक ऐसी स्त्री, जिसे सिर्फ नक्श-नैन के उतार चढ़ाव से मनुष्य समझा जा सके बाकी उसका सारा शरीर... आत्मा... सब कुछ ईंट पत्थर के संवेदनहीन ढाँचे में परिवर्तित हो गया था। तकनीकि और बाजार ने सामाजिक बंदिशों के पीछे से झाँकती स्त्री को झटके में दीवार में तब्दील कर दिया था।

ऐसा कह सकते हैं कि हमपर तसवीरों को नई रोशनी में देखने की धुन छा गई और हम अगर जाग रहे होते तो पढ़ाई वाले हिस्से से भी लम्हों को कुतर-कुतर कर नए पाठ की खोज में झोंक देते खुद को।

हमारे गद्दे वाली जगह के ठीक सामने की दीवार पर ऑयल पेंट से बनाई गई एक तसवीर थी, जिसमें संभवतः रंगों का प्रयोग सबसे ज्यादा हुआ था। यह जगह इस पेंटिंग को बनाने के लिए सबसे मुफीद थी, कारण कि दीवार के इस टुकड़े पर दोपहर से लेकर शाम तक खिड़की से आती तिरछी धूप का साम्राज्य रहता था। धूप और हवा रंगों को सूखने में मदद करती रही होगी। फिर भी जितने रंग मौजूद थे इस तसवीर में उनके मद्देनजर यह तय था कि उसे बनाने में महीनों का वक्त लगा होगा। इसमें मुख्य आकृति एक संकीर्ण लंबाई में खिंची थी जो ऊपर जाकर फैल गई थी चारों तरफ। उस फैले भाग में नारंगी, हरे, नीले और पीले रंग की आकृतियाँ लटकी थीं जो दूर से माइक्रोसॉफ्ट के लोगो की तरह दिखाई देती थी। संकरे लंबे भाग और ऊपर के फैले भाग में महीन जाले बने थे जिसमें विद्युत सी चमकीली वस्तु प्रवाहित होती थी। एडविन डिसूजा को इलेक्ट्रिक इंजीनियरिंग ब्रांच मिली थी और अभी तक हम समझते थे कि अपनी किताब के किसी दुरूह से चैप्टर का चित्र में अनुवाद किया था उसने... महीनों तक चलते रंगों के सूख पाने के इंतजार और बारीक आकृतियों के उकेरने के कष्टसाध्य श्रम के बाद। यह पूरी आकृति एक झटके में एक पुराने वृक्ष का आभास देती थी और गौर से देखने पर वह तकनीकि साधनों का जंजाल नजर आती थी जिसमें बनाने वाले की किताब का कोई कठिन अध्याय दुबका पड़ा था। पर अब हमारे नए शब्दकोष में हम इसमें एक मनुष्य का अर्थ ढूँढ़ रहे थे। लसिथ मलिंगा

जैसे प्रयोगात्मक बालों वाला एक इनसान... जिसके धमनियों में बहते चमकीले रक्त को उकेर पाना कलाकार के धैर्य की परीक्षा साबित हुई होगी।

हमारे डिकोडिंग के इस खूबसूरत सफर में एक रात एक बड़ी घटना घटी। मंजरी मुदलियार ने रात के डेढ़ बजे फोन करके हमें उसी वक्त मिलने बुला लिया... उसके हॉस्टल के पीछे के ग्राउंड में। यह वही ग्राउंड था जहाँ तीन चार दिन पहले अलसुबह पहुँचा था मैं मोरपंख ढूँढ़ने। हम हड़बड़ाकर बाहर निकले और ग्राउंड तक जा पहुँचे धुन में। हमें हैरत थी कि लड़कियों के हॉस्टल से वह इतनी रात गए कैसे आ पाएगी उस जगह! पर वह तपी हुई खिलाड़ी की तरह हमारे पहुँचने के तुरत बाद हाजिर हो गई। इतनी रात गए हम किसी लड़की से मिलें हों, यह पहला मौका था। सबसे खतरनाक बात यह थी कि मिलने के मकसद का हमें जरा भी अहसास न था।

बहरहाल मंजरी ने फुसुसाकर बताया कि अभी उसने एक पुराने अमेरिकी जर्नल में पढ़ा कि कुछ साल पहले एक आतंकी घटना की पड़ताल करते हुए एफबीआई ने ब्रेनमैपिंग करने वाले एक शख्स को पकड़ा, जिसे इनसान के दिमाग की पहेली सुलझाने की कुछ कुदरती शक्तियाँ प्राप्त थीं। वह भारतीय मूल का था और उसने इंडिया में इंजीनियरिंग की डिग्री ली थी। बाद में वह यू एस में बस गया था तीन-चार सालों से... और उसका नाम एडविन डिसू...!

जैसे ही मंजरी ने यह वाक्य समाप्त किया हमारी घिग्घी बंध गई। उसके बाद उसने क्या-क्या कहा जल्दी-जल्दी... मैं कुछ भी न सुन पाया। फोन पर उसने ये बातें न बताकर मिल कर बताना और अभी ही बताना क्यों चुना... संभव है वह उसकी वजहें बता रही थी। मंजरी सब कुछ खत्म कर मुड़ी और तेजी से वापस लौटने लगी। तभी मैंने देखा कि हमसे सौ-डेढ़ सौ मीटर की दूरी पर सिर को शॉल से ढके श्लेषा खड़ी थी। मंजरी के उस तक वापस पहुँचते ही वह भी मुड़ी ओर हमें कँपकँपाता छोड़कर दोनों ओझल हो गईं। हमने अचानक सुर में दौड़ना शुरू किया और सीधे कमरे मे आकर दम लिया।

दरवाजा बंद कर चुकने के बाद हमें अहसास हुआ कि उस वक्त कमरे में आना नहीं... बल्कि कमरे से जितना संभव दूर भागना हमारी जरूरत थी। उसके बाद से हमने अपने आप को किताबों में ऐसे घुसाने का प्रयास किया कि कहीं से भी फिसलकर हमारी नजरें दीवार को न देख पाएँ पर पलकों के किसी न किसी सूराख से दीवारें झाँक ही जा रही थीं आँखों तक। मुदित ने एकबारगी खुलकर सिर उठाकर कहा - 'कल से मेरे घर में शिफ्ट हो जाएँ क्या?'

मैं कोई जवाब न दे सका।

मुदलियार और श्लेषा हमारी गहरी राजदार बन गईं। उन दोनों ने उस खबर की आँच पर रात भर जो खिचड़ी पकाई थी वह अगले दिन हमारे सामने परोस दी गई। उस खिचड़ी में सबसे अहम मसाला एफबीआई के तथाकथित लंबे हाथ थे। बहुत संभव था कि अमेरिकी खुफिया तंत्र एडविन डिसूजा की जड़ों की तलाश करने इस कॉलेज तक आ पहुँचे और एक बार वे यहाँ पहुँच गए तो कमरे की दीवारें ऐसा खुली सबूत थीं कि उसके षड्यंत्रों की जड़ कॉलेज की मिट्टी में ही मान ली जाती... यह तय था। हो सकता है एडविन डिसूजा के बाद उस कमरे में रहने वाले लड़के उस जाँच की जद में आ जाते...'

'क्या कमरे की दीवार के राज को रातों-रात हम चूने की सफेद परत के अंदर दफन कर दें**!**'

यह सुझाव किसी ने देने का साहस न किया पर इसकी रोशनी बाकी तीनों की आँखों में बारी-बारी से देखी मैंने। यह बात और है कि घटनाओं को घटने के क्रम में सजाया जाए तो यह बात सबसे पहले मेरे मन में ही आई थी!

मुदित ने कहा - 'इसलिए इतनी मशक्कत के बाद भी एडविन डिसूजा हमें कहीं न मिला सर्च करने पर। हम तो इंडिया के भीतर के लोकेशन में खोज रहे थे उसे।'

इतना सुनना था कि श्लेषा टूट पड़ी मुझ पर। वह ऐसी आक्रामक थी मानों उसके पास सूचना पक्की थी कि अमेरिकी खुफिया तंत्र हमारे कॉलेज की ओर कूच कर चुकी हो। और मेरा/हमारा बार-बार उसे सर्च करना इस बात का पुख्ता प्रमाण कि हमारे संबंध थे उससे!

इसी समय मुदलियार ने अपने कूटनीतिक दिमाग का इस्तेमाल किया और यह घोषणा की कि अब हम एडविन डिसूजा को उसके नाम से नहीं बुलाएँगे बल्कि किसी संकेत का प्रयोग करेंगे उसके जिक्र के लिए।'

'ए डी कैसा रहेगा**?**' **-** मुदित ने कहा।

शटअप**!** ये कोई संकेत हुआ**!** इतना खुला सा**...**'

'हम उसे 'नजा' कहेंगे। उसके नाम के दोनों आखिरी अक्षर।'

'जान भी अच्छा...'

'ऐसी खतरे की घड़ी में भी मजाक की क्या बात अशेष' - श्लेषा ने झिड़क दिया मुझे।

'खतरा! क्या वाकई यह उतने खतरे की घड़ी थी जितना दाँव ये दोनों लड़कियाँ दिखा रही थीं। पर मेरे उस सवाल का बेहतर जवाब मेरे अपने चेहरे पर उड़ती हवाइयाँ ही दे सकती थीं, जिनके सरेआम उड़ते जाने पर मेरा कोई जोर न था।'

'क्या दीवार पर तसवीरों के नीचे नजा ने कोई दस्तख्त भी किया है... कभी ध्यान दिया तुम लोगों ने?'- वे वापस कमान अपने हाथों में ले चुकी थीं।

'नहीं तो' - हम दोनों ने एक साथ कहा बिना किसी रिहर्सल के।

'सिग्नेचर न सही कोई खास संकेत या इनीशियल ही...'

'नहीं तो' - इस दफा शायद हमने जानबूझकर एक साथ कहा।

'उफ! देखना गौर से कमरे में जाकर।'

'वैसे और क्या-क्या डिकोड किया तुम लोगों ने?'

डिकोडिंग वाली बात उन तक कैसे पहुँची! मैंने आश्चर्य से मुदित की ओर देखा। उसने सिर झुका लिया। फिर अगले पल उसने सिर उठाकर कहा - 'पहली डिकोडिंग इतनी विचारोत्तेजक थी कि मैंने कुछ दोस्तों से शेयर किया। इनसे भी।'

मुझे गुस्सा तो आया हमारे निजी कक्ष की प्रदर्शनी पर लेकिन खुशी भी हुई कि बगैर मेरे प्रत्यक्षतः शामिल हुए श्लेषा ने जान लिया कि मेरी सोच, गूढ़ बातें भी डिकोड कर सकती है।

मेरी त्वरित प्रतिक्रिया न मिलने को मुदित ने मेरी नरमी का संकेत माना और उसने हमारी कुछ नई व्याख्याएँ उन्हें सुनाईं। उसे सुनकर लड़कियाँ दीवार के उन हिस्से को फिर से देखने को मचल उठीं पर अगले ही पल दोनों ने अपने को रोक लिया। मैं ताड़ गया कि इनकी कल्पना में अमेरिकी खुफिया तंत्र अपने कैमरे चारों तरफ बिखरा पूरे दृश्य की निगरानी में बैठ चुका था घात लगाकर। मैं उन दोनों की सोच तक पहुँच चुका हूँ इस विचार से चौंकाने के लिए मैंने अचानक पूछा - 'जिस जर्नल में तुमने यह खबर पढ़ी वो कितनी पुरानी थी?'

मुदलियार का चेहरा सख्त हो गया और श्लेषा ने कहा - 'उन सबका हमें जिक्र नहीं करना चाहिए। उसे हमने कल रात ही जला दिया।'

मुदित और मैंने एक दूसरे को देखा और हमारा चेहरा उस जनरल से उठते धुएँ की कालिख का शिकार हो गया...।

श्लेषा ने फुसफुसाकर मुझसे कहा - 'तुम दोनों रात के वक्त खिड़कियाँ बंद रखना बत्ती जलाकर पढ़ते समय।'

'हम अँधेरे में पढ़ना सीख लें ये सबसे बेहतर' - मैं ऐंठ गया भीतर से।

श्लेषा को कैसे तो व्यंग्य से भिंची मेरी बात में व्यथा और दहशत के पुट दिखाई दिए और उसने करुणा से भरकर मुझे देखा।

यह सब चल ही रहा था कि जोश से छलकते हमारे दो सहपाठी - गौरव और चिरायु ने एंट्री ली।

'हमने कॉलेज में पढ़ाई-लिखाई के स्तर, लैब की सुविधा, गेस्ट फैकल्टी के साथ इंटरेक्शन, दूसरे कॉलेज के साथ इंटरेक्शन से लेकर कैंपस सिलेक्शन में पारदर्शिता तक की पंद्रह सूत्री माँगों की लिस्ट बनाई है। हमारे चुने डेलिगेट्स प्रिंसिपल से मिलेंगे इस मुद्दे पर। लेकिन उसके पहले हमें आपस में इस पर चर्चा कर लेनी चाहिए। हम मीडिया तक भी इस मामले को लीक कर सकते हैं। इससे दबाव बनेगा। चलो...'

मुदलियार ने गहरी नजरों से देखा मुझे, पर कहा उसने गौरव से - 'अब हमारी फाइनल सिमेस्टर सिर पर है। हम इतना आगे निकल आए हैं कि अब इन बातों का कोई ज्यादा मतलब नहीं रहा हमारे लिए। इसलिए अब ये नेतागिरी हमें नहीं करनी चाहिए।'

मेरी नजरें मंजरी से मिलीं। उसकी आँखों में एक किस्म का फख्र और संतोष था... संभवतः इस बात का कि ये दूसरे लड़के जो अनजाने में हम पर आई मुसीबत को गहराने वाले थे... उसे बुद्धि से उसने टाल दिया था। दरअसल हम चारों के अलावा बाकी हम पर आई ताजी मुसीबत से अनजान थे। इनकी माँग और धरने के अपरिपक्व कदम की वजह से हमारे कॉलेज का सुर्खियों में आ जाना संभव था और तब सुपर पावर के लंबे हाथों का हम तक पहुँचना आसान हो जाता...!

मैंने अपने आप को घटनाओं से बिल्कुल तटस्थ होता हुआ सा महसूस किया।

'अचानक से क्या हो गया तुम्हें...! हम लोगों के पूरे भविष्य का सवाल है। धोखा हुआ है हमारे साथ। अभी हम इंजीनियरिंग स्टुडेंट हैं। छह महीने साल भर में हमारी स्टेट्स बदल जाएगी और हम डिफॉल्टर बेरोजगार हो जाएँगे। यह सब कुछ इतनी आसानी से हो जाने दें?'

'हम सबने यह किया है जानते बूझते। और शर्तिया कहती हूँ अगर अभी भी मौका आ जाए लोन के पैसों पर एमटेक की एक और डिग्री लेने का ताकि रोजगार के सवाल और रिपेमेंट प्रक्रिया को दो तीन साल और टरकाया जा सके तो हम सब फिर से लपक लेंगे ये मौका' - यह श्लेषा थी जिसने 'नागरिक बनाम राज्य' पर एक लंबा आख्यान दिया था कभी!

कितना आसान होता कि मैं एकबार जोर से हँस देता और मुदलियार के रचे फितूर को जड़ समेत उड़ा देता अपनी उस हँसी से। एडविन डिसूजा और अमेरिकी जर्नल वाले उस शिगूफे के खोखलेपन को कम से कम मैं तो महसूस कर ही पा रहा था... आरंभ से। जब गूगल पर हजारों हजार की संख्या में मौजूद थे उस नाम वाले तब कैसे यकीन किया जा सकता था कि ये दोनों एक थे। पर जाने क्यों जर्नल वाले एडविन डिसूजा से हमारे कमरे वाले चित्रकार डिसूजा का संबंध होनेवाली उस तथ्यहीन बात को झुठला देने की मुहिम की अगुआई मैं नहीं कर पाया। इस बात का पूरा यकीन होते हुए भी कि बाकी तीनों उस मुहिम में शामिल होने को आतुर थे और एक बस नेतृत्व का इंतजार था उन्हें।

'अशेष... इन दोनों को क्या हो गया यार!'

श्लेषा ने झपटकर वार किया - 'कुछ नहीं हुआ हमें। हम प्रैक्टीकली सोच रहे हैं। अभी आखिरी सिमेस्टर के समय इन बातों का कोई मतलब नहीं। परीक्षा दे दो फिर बैठ कर तय करते हैं।'

'ओ के' - वह अकबकाया सा लड़कियों को ताकता रहा। फिर वह मेरी तरफ मुड़ा -'तुम्हारी बात भी सुनी जाए अशेष!'

'मैं तय नहीं कर पा रहा।'

'क्या?' - कई सारे लोगों ने एक साथ कहा पर श्लेषा का कथन इतना घबड़ाया हुआ था मेरे संभावित उत्तर से कि मुझे हँसी आ गई। मुझे इल्म न था कि वह एक हँसी इतनी जानदार साबित होगी, इतनी वजनी कि एक झटके में उड़ा दे जर्नल के धुएँ की सारी कालिख को।

मैंने कहा -' मैं तय नहीं कर पा रहा कि यह लड़ाई मेरे भीतर की है या बाहर की। युद्ध का मैदान मेरी अंतरात्मा है कि आप सबके सहयोग से कोई बाहरी लड़ाई लड़नी है मुझे। और जब तक मैं यह तय न कर पाऊँ मेरी बात का सुना जाना कोई मायने नहीं रखता।'

मैं वापस मुड़ गया। मैं वाकई असमंजस में था। मुझे इस तरह प्रशिक्षित किया गया है चार वर्ष कि मुझसे रोजगार की मेरी क्षमता ही छीन ली गई... वे चार वर्ष जो मेरे लिए उस संभावनाशील खेत की तरह थे जिसे प्रशिक्षित किसान की निगरानी में तैयार किया जाए तो आगे सालों-साल फसल लहलहाती रहे। सबसे उपजाऊ साबित होने की संभावना रखनेवाले उन चार वर्षों में कुछ इस तरह तैयार किया गया था मुझे कि आगे ताउम्र मैं बंजर करार कर दिया जाने वाला था। इस नियोजन की क्षमता को छीन लिए जाने के खिलाफ या उसे बचाने की जद्दोजहद में अपने जैसे दूसरे साथियों के साथ मैं जो लड़ाई लड़ना चाहता था वह अपने पहले चरण में ही हमारी खोखली मानसिक तैयार के कारण बिखर गई थी।

इंटरनेट और गूगल ने हमें तमाम तरह की सूचनाओं और आँकड़ों से लैस तो कर दिया था, पर तथ्यों को परखकर सही दिशा खोजने के नजरिये और सबसे बढ़कर आत्मबल को जगा पाना सूचना तंत्र के बूते का था ही नहीं। इसके लिए हमें खुद आगे आना था। धैर्य और लगन से मानसिक सोच की जमीन तैयार करनी थी, जिसके लिए न हमारे पास वक्त था, न ढब, न संस्कार। लिहाजा युद्ध की जमीन यलगार के पहले ही खिसक चुकी थी। पर इस बात का मुझे उतना सदमा न लगा था जितना कि आहत मैं अपने कमरे की दीवारों पर होने वाले आक्रमण से हो रहा था। यह साजिश थी उस चीज को छीन लेने की जिसके माध्यम से मैं अब धीमे-धीमे अपने को पुनर्व्याख्यायित करने लगा था। और यह साजिश मुदलियार या किसी बाहरी की कम खुद मेरी ज्यादा थी। क्योंकि अमेरिकी खुफिया तंत्र के हिलते जड़ों वाले शिगूफे को मैं चाहता तो एक झटके में उखाड़ फेंक सकता था। लेकिन कितना कमजोर था मैं भीतर से कि उस साजिश के जड़ हवा में उड़ियाकर मुझे चुनौती दे रहे थे पर मैं हाथ

पॉकेट में घुसाए दुबका बैठा था। किसी और की पहल का इंतजार करता... यह बात भयानक थी!

हम किताबों में खुद को छिपाए पड़े थे। पन्ने-दर-पन्ने पलटते हुए एक शब्द से दूसरे शब्द तक नजरों को उछालते हुए। मैं किताब के पन्ने से जरा सा नजर को बाएँ घुमाता तो वहाँ मेरी सबसे प्रिय तसवीर थी। दूर दीवार के एक हिस्से पर। साये में सिमटी दो आकृतियाँ। साथ चलती हुईं। जुड़ीं एक दूसरे से। उन दोनों के पैर मिले हुए थे आपस में... उद्‌गम एक ही पर ऊपर दो आकृतियाँ थीं। एक थोड़ी आगे को झुकी हुई। यह बिलगाव कर पाना कठिन था कि स्त्री आकृति कौन सी थी और कौन था पुरुष! सीधी खड़ी ज्यादा स्याह सी आकृति को हम पुरुष आकृति मानते थे और आगे की तरफ झुका कम स्याह साया... स्त्री का ऐसी सोच थी हमारी। पर अभी इस जगह से देखते हुए सीधी खड़ी आकृति स्त्री की लग रही थी... कारण कि उसकी पीठ का विशिष्ट कटाव मैं इस ऐंगल से देख पा रहा था।

मुदित ने मेरे हाथों से किताब झटक दिया और कहा - 'कल जब मैंने इस कमरे को छोड़कर घर शिफ्ट होने वाली बात की तो तूने मुझे मारा क्यों नहीं एक थप्पड़!'

मैं उसका हाथ अपने गले तक ले गया और कहा मैंने - 'आज जब मैंने सफेद चूना पोत देने की बात सोची... इन दीवारों पर... तो तूने मेरा गला...'

पहल कर चुका था मुदित और गनीमत है कि साथ दिया था उसका मैंने। हम एक दूसरे के गले से लगे थे जब मेरी नजर कमरे की बंद खिड़कियों पर गई और मैंने उन्हें उठकर खोलते हुए कहा - 'यह सीधी खड़ी आकृति लड़की की है... यहाँ से देख मेरी जगह से।'

उसकी आँखों में चमक आ गई और वह मेरे स्थान पर बैठ उसे देखने लगा।

'और मैं इसे डिकोड नहीं करना चाहता क्योंकि यह मुझे सबसे प्रिय है इसी रूप में।'

'डिकोड तो तूने कर दिया है। नर को मादा और मादा को नर बना दिया है।'

हमारा ठहाका इतना जोरदार था कि अमेरिकी खुफिया तंत्र के कैमरों पर स्क्रेच आ गया था। यह विचार हम दोनों के भीतर एक साथ जागा वजह यही कि हमने उस ठहाके को लंबी साँस तक खींच लिया। बीच में हम मुदलियार के 'नजा' के सम्मान में बेसुरा राग अलापने लगते - न जा कहीं अब न जा' ...फिर दौर ठहाकों का।

मन मेरा हल्का हो गया। बाबजूद इस सचाई के उघड़ जाने के, कि अपने प्रिय कमरे पर होने वाले खोखले हमले से भी भिड़ पाने की हिम्मत न दिखा सका मैं। बहरहाल, माहौल पर छाए बादल एकबारगी हट चुके थे। मुदित ने अपनी फाईल से दो पन्ने निकाले। उसके ई मेल में बैंक की तरफ से मेरी भेजी गई शिकायत का कोई जवाब आया था। दिन में लाइब्रेरी के प्रिंटर से मुदित जिसका प्रिंट-आउट निकाल लाया था। ताकि मैं अपनी बैंक वाली फाईल में शिकायत और निबटारे की कॉपी लगा कर रख सकूँ भविष्य के रिफरेंस के लिए। हम दोनों ने सरसरी निगाहें उस पर डालीं। बैंक ने मेरी शिकायत को दर्ज कर लेने और हफ्ते भर के अंदर उसका निबटान करने की बात लिखी थी। साथ ही यह भी कि आवेदन के समय किए गए वादे के अनुसार पिछले दो महीने से मैंने सूद की रकम न चुकाई थी। उन्हें अगले महीने तक चुका देने की नसीहत आदि-आदि।

मैं लेट चुका था वापस इसलिए अलसा गया प्रिंट-आउट को फाईल में तुरंत रखने में। मुदित मेरे हाथ से प्रिंट-आउट लेकर फाईल में लगाने चला कि तत्काल मेरी नजर उन अक्षरों पर पड़ी जिसे मेरी संपूर्ण चेतना को हर लिया - बैंक वाले पत्र के अंत में बाईं तरफ पत्र लिखने वाले का सिर्फ पद नहीं लिखा था... बल्कि वहाँ ढाई अक्षर का एक नाम भी था - मृगा।

मैंने कागज छीन लिया वापस और बैठ गया बिस्तर पर। काँपने लगा मेरा वजूद... उन अक्षरों को बार बार देखते देखते। वही था वहाँ लिखा क्योंकि मुदित ने भी उच्चारण कर दिया था अब नाम का विस्मय में भरकर। उसके नीचे लिखे पदनाम का भी।

सहायक प्रबंधक, वैयक्तिक ऋण विभाग... यह पदनाम लिखा था उसके नाम के नीचे।

यह मेरे लिए दुनिया का अंत था। मैं पसीने से बोथा गया और मेरी आँखें फैल गईं थीं बेतरतीब। मैं बिल्कुल स्थिर था और साँसों का आना-जाना भी शक के घेरे में था। मुदित मुझे थामे बैठा था। कभी मुझे, कभी उन खुली खिड़कियों को देखते। उसे लग रहा होगा जरूर कि कहीं उन खुली खिड़कियों से होकर अमेरिकी खुफिया विभाग का दागा कोई अत्याधुनिक मिसाइल तो नहीं प्रवेश पा चुका कमरे में, जिसका शिकार हो जाने पर इनसान जीवन और मृत्यु के बीच की रेखा पर झूलने लगता है और किसी को खबर तक न होती! पर मैं उसे क्या समझाता कि यह प्रक्षेपास्त्र मेरे भीतर से चला था और मेरा अंतस ही था जो पूरी कायनात के साथ मिलकर मेरे खिलाफ जंग में

शामिल था। जब भी मुझे लगता कि मेरे पास अब खोने को कुछ भी नहीं बचा, एक और ऐसी चीज छीन ली जा रही थी मुझसे... जिसका छीना जाना मेरे पिछले दावे को गलत साबित कर देता।

मैं उसे कैसे बताता कि उस शाम की आँसुओं से बिंधे चेहरे की एक छवि जो मेरी सारी तकलीफों की गहराई और मेरे सपनों की ऊँचाई... दोनों को मापने का पैमाना बन गई थी... उस छवि से पाए ऐसे घात को सह पाना... इनसानी सहनशक्ति के बूते की चीज न थी।

'मृगा...' मेरे भीतर से एक भयानक आर्तनाद गूँजा। मैं लड़खड़ाता किवाड़ की कुंडी से लटकते अपने जींस तक आया और उसकी जेब के भीतर मैंने उँगलियाँ सहराईं। नहीं थी। नहीं थी वह बस की टिकट से बनी आकृति वहाँ!

'श्लेषा...' मैं चिल्लाया। मैं वहीं से चिल्लाकर पूछना चाहता था... रात के इसी सन्नाटे को चीरते हुए... गवाही चाहता था उसकी कि उसने मुझे मोरपंख के पहले जेब से उस आकृति को निकालते देखा था उस रोज। पर मैं जानता था वह इंच भर नीचे लटके काजलों वाली आँख को फैलाकर कहेगी - 'नहीं तो ऐसा तो कुछ हुआ न था! कब... आदि आदि'

मैं सिर पकड़कर बैठ गया वहीं। हाई स्कूल, मिडिल स्कूल, ब्रेड के बीच का समोसा, रिक्शेवाला, कोचिंग इंस्टीट्यूट, होटल, बस, आर्ट गैलरी... और वह मेरा खेल! जिसे मैंने रचा था और जिसकी दुनिया में पहुँचकर हर बार मुझे विधाता होने का सा सुख मिलने लगा था। जिंदगी की कड़वी सचाईयों के समानांतर एक निजात का जो मैंने बनाया था - सब एक छलावा था। साजिश थी। मैंने एक अदृश्य शक्ति को तड़पकर खोजा चारों ओर... फटकार लगाने... जलील करने... या कि गुहार लगाने के लिए ही। पर दुनिया का हर कोना पटा था दीवार की तसवीरों से ही। तसवीरें... जिनमें इनसान के और मशीनों के अंग-प्रत्यंग बिखरे पड़े थे। कहीं एक दूसरे का आईना बने तो कहीं एक दूसरे का अवयव बने तो कहीं एक दूसरे के उत्स का ही कारण बने!

एडविन डिसूजा तो शायद इस कमरे में कहीं तकनीकि से बनी मशीनों के और कहीं इनसानों के अलग-अलग अक्स उभार कर गया था। यह उसका अपना तरीका रहा होगा एक अनचाहे से विषय को समझने का। एक ऐसी पढ़ाई को अपनाने का जो उस पर थोप दी गई थी। जो वह पढ़ता था उन्हें उकेर देता था दीवारों पर इस उम्मीद में कि एक बार अपनी भाषा में रच चुकने के बाद वे चीजें उसकी अपनी हो जाएँगीं। उन

ठस तसवीरों को जिस चित्रकार ने सबकी नजरें बचाकर इनसानी आत्मा दी... अलग-अलग बिखरे तकनीकि और इनसान... मन और मस्तिष्क के रिश्ते को एक धागे में पिरोया और मैं... जिसके अशेष आकर्षण में डूबा रहकर इन जटिल रिश्तों को अपनी आत्मा की आँखों से पढ़ता गया... उस चित्रकार और उन तमाम पुनर्पाठों के अस्तित्व को झुठलाने की साजिश थी यह। कोई भी ऐसा नहीं था जो मेरे पक्ष में खड़ा होकर कह सके कि मृगा वही थी... जिसे मैं जानता था।

मैंने हथेली से अपना मुँह ढाँप लिया। जब मैं उसे गढ़ने चला था कल्पना में... तब वह यथार्थ में उपस्थित थी... कर्ज की राशि से संबंधित सूचनाएँ भेजती, जिनकी भावहीन औपचारिकता हड्डियों को कँपकँपा देती थी एकांत में। यह शर्मिंदगी की इंतहा थी। मेरा असफल होता हुआ वर्तमान... भविष्य... सब उसके आगे निर्वस्त्र खड़ा था ओर मैं कोरी कल्पनाओं की चाशनी में उभचुभा रहा था उसका भरोसेमंद आधार बना। अपनी रची दुनिया में मैं उसकी संबल बना रहा। ऐसा रक्षक जिसके वादा न निभा पाने पर अब भी आँसुओं से भींगा चेहरा लिए वह उपालंभ का दृश्य प्रस्तुत करती हो। वह दृश्य भले ही उद्वेलित कर गया था मुझे पर कितना गहरा तोष उभरा था कि उसे अब भी मेरा आसरा है कहीं। और वास्तविकता यह थी कि मैं सूद तक समय पर नहीं भर पा रहा - यह सच आँकड़े की तरह फैला था उसके इर्द-गिर्द। दूसरे लेनदारों के आँकड़ों के साथ... पेशेगत सूचना मात्र... की हैसियत से।

मैं मुदित की उपस्थिति को पूरी तरह भूल गया था। वह एक सनसनीखेज रील की तरह देख रहा हो शायद यह सब रोमांच से। मैंने लैपटॉप ऑन किया। मेरे फेसबुक पर बैंक और मेरी पुरानी बातचीत का पन्ना खुला। वह... अगर कि वह थी, इस बातचीत में अगले पक्ष की प्रतिनिधि, ...तो उसने कितनी भावशून्यता से निबटाया था मुझे। क्या वह मुझे पहचान न पाई होगी? कैसी मूर्खता। जबकि मेरी तसवीर, सभी कागजात... जमा थे बैंक में। मेरी लिखावट थी लोन के फॉर्म में। मेरा अंकपत्र जमा था वहाँ इंटरमीडियट का। उसे तो रटा था कि किस विषय में कितने अंक मिले थे मुझे। एक साल हमने साथ स्नातक की पढ़ाई की और इसी इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षा के लिए कोचिंग भी। मैं चुन लिया गया। वह बगैर चुनी रह गई। मैं आगे पढ़ने चला आया। मैंने मुड़कर देखा तक नहीं बगैर चुने लोगों को। सहायक प्रबंधक वैयक्तिक ऋण विभाग...!

यानी स्नातक के तुरंत बाद उसे नौकरी मिल गई। ऐसा विकल्प मेरे दिमाग में क्यों न आया जब मैं उसे खोजने उसके शहर तक गया! उसके आगे बढ़ चुकने की

संभावना मेरे सामने नहीं आई बल्कि मैंने उसके लिए नौकरी की तैयारी में धक्के खाने या ब्याह कर घर बैठ जाने के विकल्प ही निधार्रित किए थे। कितना सुकून मिलता होगा उसे, जब वह उस नाकामी का प्रतिशोध ले पाती होगी मुझे कर्ज की रकम चुकाने की याद दिलाकर! मैं इस तरह का तमाचा डिजर्ब करता था बिल्कुल। चार साल मैं उसे भूलकर मग्न रहा अपनी दुनिया में और अब उसकी तलाश अचानक शुरू की मैंने सिर्फ इसलिए कि उसकी संघर्षरत स्थिति के आगे अपनी तकनीकि डिग्री की सफलता (?) के झंडे गाड़ सकूँ।

मेरी मांसपेशियाएँ भिंच गईं थीं और मैं वहीं भहरा गया बिस्तर पर एक ऐंठन के साथ। पालथी की शक्ल में पैर दोनों मुड़े थे। गोद से लैपटॉप लुढ़क गया था और मैं चित्त गिरा था बिस्तर पर। मुदित ने बहुत हिम्मत जुगाड़ कर कहा - 'क्या बात हो गई?'

कितना सुखद होता कि उसके इस तरह टोक कर सांत्वना देने की क्रिया से बिलख पड़ता मैं... भीतर की तड़प को निकल जाने का माध्यम मिल पाता पर यहाँ तो कतरा भर आँसू भी नहीं जुटा पाया मैं। जबड़े भिंच गए थे, कान की जड़ों में नसें उभर आई थीं... और आँखें बंजर जमीन की तरह दरक गई थीं... बूँद भर पानी की आस में। मुदित दाएँ कंधे से उतरते हुए मेरी बाँहों को सख्त सख्त दबाए जा रहा था। उसके इस उकसावे पर एक हौल सा उठा सीने से पर वह भी आँखों की कोर पर आकर ठिठक गया।

मुदित ने अपने पंजे मेरी बाँह में गड़ा दिए खूब मजबूती से।

मेरी गरदन बाईं ओर मुड़ी... वहाँ मेरी प्रिय कृति थी। इस दफे... इस ऐंगल से ... इन फटी आँखों से वह दो मनोदशाओं के बीच झूलते एक ही इनसान की तसवीर थी। मुदित के नाखूनों का दवाब बढ़ता जा रहा था और सामने की दीवार के नर और मादा... दो साये एक में सिमटते जा रहे थे...। यही वक्त था जब मैंने अपनी बाईं गरदन पर नमी की एक लंबी लकीर महसूस की। उस गीलेपन का अहसास होते ही मैं कपंसने लगा। बाईं करवट मुड़ा। घुटने को अपनी पेट तक भींचे। आँसू आगे आएँ कि न आएँ पर रोए चला जा रहा था मैं हिलक हिलक कर। थरथराता। अकेला असहाय और बेपरदा।

यह विलाप का एक अलग प्रकार साबित हुआ, जिसके मुखरे में मैं सूखे नेपथ्य पर कपंसता गया और अंतरे तक आते-आते आँसुओं का ऐसा सैलाब फूट पड़ा कि भीतर

के बादल छँटते चले गए तेजी से। जी भर कर रो चुकने के बाद एक अलग प्रकार की तरंग मेरे भीतर फूटने लगी। एक-एक करके अपने भविष्य, अपने वर्तमान और अतीत के हर मोर्चे पर मेरा खोखलापन जाहिर था। मैं बचा था निःशेष! धूल में लिसड़े उस दिन वाले कोक के खाली डिब्बे की तरह। पर जो जितना खाली होता है उसके भरने की संभावना उतनी ही बच जाती है। मुझे यह अहसास हुआ कि आखिरकार अब वाकई मेरे पास खोने के लिए कुछ भी न बचा था। यहाँ से आगे अब गँवाने का लेखा-जोखा रखने की कवायद न थी। मेरे होंठ फैले... अपनी पूरी चौड़ाई में। यह क्या कम बड़ी नियामत थी!

मैं बगैर कुछ सोचे या समझे वैसे ही निश्चेष्ट पड़ा रहना चाहता था उस अहसास को भोगते हुए। मेरी मुट्ठियाँ खुल गईं थीं और हथेली पसरी पड़ी थी। मैं साँसों की गहराई को उनके आखिरी मुकाम तक महसूस कर पा रहा था। यही कोई पल रहा होगा जब कल का सूरज उगने के पहले की एक पुरसुकून नींद में दाखिल हो चुका था मैं...

https://www.hindiadda.com/ibtida-ke-aage-khali-hee/